ओंकार : एक अनुचिन्तन

•

लेखक
मन्त्री पण्डित प्रवर श्रद्धेय श्री पुष्करमुनिजी म०

•

सम्पादक
देवेन्द्रमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

प्रकाशक	सार्वभौम साहित्य संस्थान । १०/१७ शक्तिनगर, देहली ६
प्राप्ति स्थान	भण्डारी सरदारचन्द जैन । जैन बुकसेलर त्रिपोलिया, जोधपुर ।
अर्थ सहयोगी	१. ऋषभराजजी पारसमलजी भूताजी, सिवाना । २. हस्तीमलजी भूताजी, सिवाना । ३. कानुगा बिगड़मलजी मुलतान-मलजी, सिवाना (राज०) ४. नरसिंहमलजी शांतिलालजी भारुण्डा (मारवाड़)
प्रकाशन-तिथि	२३ फरवरी सन् १९६४
मुद्रक	आर्य सहकारी प्रेस लिमिटेड, अजमेर ।
मूल्य	एक रुपया ।

पूर्वाङ्कन

मानव ने अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिये अनेक संस्थाओं, परम्पराओं और विद्याओं को जन्म दिया, किंतु वे स्वयं समस्यायें बनकर, मानव को दबाने लगीं। उद्धार के स्थान पर ह्रनन का कारण बन गई।

आत्मोन्नति के लिए कई संस्था अस्तित्व में आई उसका लक्ष्य था बाह्य तत्वों के आवरण में छिपे हुए आंतरमानव का प्रकटीकरण, किन्तु उसका नाम लेकर नये-नये तत्त्व अस्तित्व में आ गये और वे मानवता को दबाने लगे। धर्म ने पंथ का रूप ले लिया। अहिंसा और प्रेम के स्थान पर वह परस्पर द्वेष एवं घृणा का पोषण करने लगा। धर्म के नाम से होने वाले युद्धों का इतिहास राजनीतिक युद्धों से कम रक्तरंजित नहीं है।

परस्पर सहयोग द्वारा सर्वतोमुखी विकास के लिए समाज संस्था अस्तित्व में आई किन्तु उसी वर्ण विद्वेष जाति-विद्वेष तथा लिङ्ग वैषम्य को जन्म दिया। एक मानव अपने आपको देवता मानने लगा और दूसरे को पशु से भी नीचे समझने लगा।

बाह्य आक्रमण को रोकने एवं चोर, डाकू आदि के उपद्रवों से सर्व साधारण की रक्षा के लिए राज्य संस्था अस्तित्व में में आई किन्तु अधिकार प्राप्त करके राजा अपने आपको अति-मानव मानने लगा और प्रजा को अपनी भोग्य सामग्री। दूसरी ओर राष्ट्रीयता के नाम पर सर्व साधारण को ऐसी मदिरा पिलाई जाने लगी, जिससे एक मानव दूसरे मानव को अपना

शत्रु समझे। उसी ने अणु तथा उद्‌जन सरीखे भयङ्कर अस्त्रों को जन्म दिया जिनकी संहारक शक्ति से सारा विश्व कांप उठा है।

वस्तुओं के विनिमय द्वारा दिनोंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापार या वाणिज्य विकास हुआ, किन्तु वहां भी एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करने लगा। वाणिज्य-शास्त्रियों का उर्वर मस्तिष्क ऐसे उपायों की खोज में लगा है जिससे बाजार पर एकाधिपत्य हो जाय और उपभोक्ता को विवश होकर अधिक मुल्य देना पड़े। मध्ययुग में व्यापार के नाम पर मनुष्यों का क्रय-विक्रय भी चलता रहा।

भौतिक स्वार्थों की संकुचित परिधि से बाहर निकाल कर मानव और मानब में भावनात्मक एकता स्थापित करने के लिए कला एवं साहित्य अस्तित्व में आये। उनका लक्ष्य था मानव को हृदय की उस भूमिका पर पहुँचाना जहाँ वह एक संवेदन-शील प्राणी है। न वह हिंदू है न मुसलमान, न अंग्रेज न यहूदी, न स्त्री न पुरुष, न ब्राह्मण न शुद्र। किंतु वे हृदय-शुद्धि के स्थान पर विलाशीता को प्रोत्साहन देने लगे। मनुष्य भावुक के स्थान पर कामुक बन गया है।

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि समाधान स्वयं समस्यायें बनते चले गये। उपनिषदों में मकड़ी का उदाहरण आया है, वह उसकी भूख की समस्या सुलझाने के लिए पेड़ से लारें निकाल कर जाला बुनती है, सोचता है उसमें कीड़े मकोड़े फँस जायेगें और वह अपना पेट भर लेगी; किंतु स्वयं उसमें फँस जाती है और प्राण गवा देती है। वर्तमान मानव की भी यही दशा है। वह नये-नये उपाय खोज रहा है और प्रत्येक के लिये यही

सोचता है कि वह उसे सुखी बना देगा; किन्तु वही नयी-नयी उलझनें पैदा करके उनका गला घोंटने लगता है जिसे वह देवता मानता है, वह राक्षस बन जाता है, जिसे रक्षक के रूप में अपनाता है वही भक्षक हो जाता है, जिसे वरदान समझता है वही अभिशाप बन जाता है।

इस स्थिति का मुख्य कारण है अहंकार की उपासना। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्म के साथ ही दो घेरे बना लेता है। पहला घेरा 'स्व' का है और दूसरा 'पर' का। स्व के घेरे में वह प्रेम एवं सहयोग से काम लेता है और पर के घेरे में हिंसा एवं द्वेष से। पर के घेरे में आने पर प्रत्येक समाधान समस्या बन जाता है और स्व के घेरे में कठिन से कठिन समस्या का भी अपने आप समाधान हो जाता है। अहंकार की उपासना पर के घेरे को उत्तरोत्तर हृदयहीन बनाती जाती है। दो अहंकार परस्पर टकराते हैं और समस्त वातावरण को अशांत बना देते है उसे हिंसा एवं क्रूरता से भर देते हैं। मानवता के उद्धार का एक ही मार्ग है कि वह विषयता के स्थान पर समता की उपासना करे; भौतिक स्वार्थों के स्थल पर आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देना सीखे। इसी को दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वह अहंकार के स्थान पर ओंकार का पुजारी बने।

भारतीय साधना में ॐकार की उपासना को सभी परंपराओं ने अपनाया है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा अथवा जीवात्मा से परमात्मा पर पहुँचने का इसे अमोघ उपाय माना है। उपनिषदों ने इसे ब्रह्म का वाचक माना है। पतंजलि ने इसकी व्याख्या ईश्वर के रूप में की है। जैनदर्शन में यही पंचपरमेष्ठी का बोधक है। पुराणों में इसका अर्थ त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश किया गया है।

ॐ में तीन अक्षर है अ, उ और म। जहाँ इसे वैदिक शब्द मानकर शूद्रों के लिये वर्जित समझा गया है वहाँ इसका क्रम बदल दिया गया है और उसे उ, 'अ और म' के रूप में उपस्थित किया गया है जिसकी संधी होने पर 'बम' बन जाता है। भारत की पिछड़ी जातियों में इसका उच्चारण बम-बम के रूप में किया गया जाता है। इसी का तीसरा रूप उमा है जिसे शक्ति उपासना में महत्त्व दिया गया है।

ओम् के रहस्य का सर्वाधिक विवेचन व्याकरण दर्शन या शब्द ब्रह्म को माननेवाली परम्परा ने किया है। इस पर भर्तृहरि का 'वाकपदीय' नामक' प्रौढ़ ग्रन्थ है। व्याकरण दर्शन में शब्द या वाणी की चार अवस्थायें मानी गई हैं—परा, पश्यंती मध्यमा और वैखरी। इस परस्पर व्यवहार के लिये जिस वर्णात्मक ध्वनि का प्रयोग करते हैं उसे वैखरी कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम 'आहत ध्वनि' है। वायु का कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि विविध स्थानों के साथ आघात अर्थात् टक्कर होने पर इसकी अभिव्यक्ति होती है। उससे ऊपर मध्यमा है, जहाँ ध्वनि हृदय स्थान से उठता है। यह ध्वनि सदा होती रहती है। किन्तु वाह्य ध्वनियों के कारण सुनाई नहीं पड़ती। उङ्गलियों द्वारा बन्द कर लेने पर बहते हुए पानी के समान एक निरन्तर ध्वनि सुनाई पड़ती है इसी को 'अनाहतनाद' कहा जाता है। राधास्वामी तथा अनेक अन्य सम्प्रदायों में इसी पर मन को एकाग्र किया जाता है। ओम् की ध्वनि भी अनाहत ध्वनि मानी जाती है।

इसके ऊपर पश्यन्तीवाक् है। इसका अर्थ है कि विचार या चेतना का वाह्य अभिव्यक्ति के लिये प्रथम उन्मेष। उसके ऊपर परारवाक् है जो शुद्ध चेतन रूप है, वह शान्त समुद्र के समान है।

पश्यन्ती उसकी पहली तरङ्ग है और मध्यमा सतत उद्घोष है। वैखरी से व्यावृत होकर मध्यमा पर ध्यान जमाया जाता है और पश्यन्ती द्वारा परा में लीन होने का प्रयास किया जाता है।

जप साधना भारतीय योग विद्या का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। कोई कोई तपस्या, ध्यान आदि अन्य साधनों की तुलना में उसे अधिक महत्त्व देते हैं। जप का प्रारम्भ ओम् के के साथ होता है। पंतजलि ने कहा है कि ओम् का जप करते हुए साथ में उसके अर्थ की भी भावना करनी चाहिये। जप के अनेक प्रकार हैं। स्पष्ट शब्दों में उच्चारण करते हुए बिना उच्चारण के ओठ हिलाते हुये, ओठ बन्द करके केवल जीभ हिलाते हुए, उसे भी हिलाये बिना केवल मन ही मन जप करना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट माना गया है। अन्त में मन से भी प्रयत्नपूर्वक जप करने की आवश्यकता नहीं रहती सौर इच्छापूर्वक प्रयत्न किये बिना ही एक सतत धारा चलती रहती है, वहाँ ईश्वर में शक्ति चेतन मन से आगे बढ़कर अचेतन मन में उतर जाती है और संस्कार का रूप धारण कर लेती है। इसी का अर्थ है पश्यंती से परा में प्रवेश।

श्रद्धेय मन्त्री श्री पुष्कर मुनिजी ने प्रस्तुत पुस्तक में ओंकार की साधना के विविध रूपों को उपस्थित किया है। उनका प्रयत्न कई दृष्टियों से अभिनन्दनीय है। पहली बात यह है कि उन्होंने भारतीय साधना के उस रूप को उपस्थित किया है जो बाह्य क्रिया काण्ड के जाल में आच्छन्न-सा हो गया था। पुनः उस लक्ष्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसे छोड़कर साधक इधर उधर फिर रहा था, दूसरी बात जो उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह है कि उन्होंने इसके द्वारा भारतीय साधना के उस निर्मल स्रोत को उपस्थित किया है जो सभी परम्पराओं का का मुख्य आधार रहा है। जिसके द्वारा सभी ने अपनी प्यास

बुझाई, उसके निर्मल जल में स्नान करके शान्ति और शुद्धि प्राप्त की। वर्तमान मानव धर्म की ओर उपेक्षा भरी दृष्टि से देख रहा है। उसे ढोंग तथा लड़ाई-झगड़ों का कारण मान रहा है। ऐसे युग में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि धर्म के उस उदात्त रूप को उपस्थित किया जाय जो वाह्य भेदों से ऊपर उठा हुआ हो। मन्त्री मुनिजी का यह प्रयास प्रशंसनीय है। हम आशा करते हैं कि वे इस ओर आगे बढ़ेगें और भारतीय साधना के उज्ज्वलतम रूप को उपस्थित करने में प्रयत्नशील होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक सार्वभौम साहित्य संस्थान के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हो रही है। मानव को राष्ट्र, जाति तथा पंथ की परिधियों से निकालकर महामानवता की ओर ले जाना संस्थान का मुख्य लक्ष्य है। ओम् सबसे बड़ा मङ्गल है। संस्थान को अनायास ही मङ्गल के रूप में इस पुस्तक के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ इसके लिये हम मन्त्री मुनिश्री के आभारी हैं, और साथ ही देवेन्द्र मुनिजी का भी। आशा करते हैं कि उनका आशीर्वाद तथा सहयोग हमें सदा प्राप्त होता रहेगा।

डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष
सार्वभौम साहित्य संस्थान
१०/१७, शक्तिनगर, देहली ६

प्रकाशकीय प्रकाश

प्रबुद्ध पाठकों के पाणि-पद्मों में "ओंकार : एक अनुचिंतन" समर्पित करते हुए हम परम आह्लाद की अनुभूति कर रहे हैं। ॐ के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखने वाले साधकों को प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत कुछ समझने को, चिंतन करने को प्राप्त होगा।

प्रकृत ग्रन्थ के लेखक पण्डित प्रवर श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज हैं और सम्पादक हैं, तेजस्वी लेखक देवेन्द्र मुनि तथा जैन जगत् के यशस्वी, कलम कलाधर पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल। तथा पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया है धर्म-प्रेमी सुश्रावक मिश्रीमलजी, हस्तीमलजी भूताजी कानुगा घिगडमलजी सिवाना व दानवीर सेठ नरसिंहमलजी सालचा, भारण्डा निवासी ने।

श्री मिश्रीलालजी – जिनका कुछ समय पूर्व देहान्त हो गया, वे गुरुभक्त तथा भद्र प्रकृति के श्रावक थे। उनके ऋषभराजजी, पारसमलजी ये दो पुत्र हैं। जो अपने पूज्य पिता की तरह ही धर्मनिष्ठ हैं। आपने स्वर्गीय पिता श्री की पुण्य स्मृति में ५०० रुपये पुस्तक प्रकाशन के लिये प्रदान किये हैं।

श्री हस्तीमलजी – आप परम श्रद्धालु, गुरुभक्त, जैनागमों के प्रेमी व अनेक थोकड़ों के ज्ञाता श्रावक है। आप सिवाना वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ के अध्यक्ष है। आपने ३०० रुपया ग्रन्थ के प्रकाशन में दिये हैं।

कानुगा घिगडमलजी, आप भी सिवाना के हैं। आप भी गुरुभक्त हैं आपने ३१ रुपये देकर अग्रिम ग्राहक बने हैं।

श्री नरसिंहमलजी—आप वयोवृद्ध, उत्साही व उदारमना श्रावक हैं। गुप्तदानी तथा गुरुभक्त हैं। आपने पुस्तक में ३०० रुपये की सहायता दी है। भविष्य में भी आप साहित्य प्रेमियों की सहायता प्राप्त होगी तो हम अधिक से अधिक उत्कृष्ट साहित्य प्रकाशित कर सकेंगे, उसी आशा और विश्वास के साथ।

—मन्त्री

—•—

ओंकार : एक अनुचिन्तन

विषयानुक्रम

ओंकार की महिमा

आर्य जाति के साहित्य में 'ॐ' एक असाधारण मंत्र है। अनादिकाल से असंख्य-असंख्य साधक, मुनि और योगी इस परम पावन मंत्र का ध्यान करते आ रहे हैं। इस मंत्रराज में अनन्त गरिमा सन्निहित है। शरीर की स्थिति और पुष्टि के लिए जैसे आहार की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मा में निहित शक्तियों के आविर्भाव और विकास के लिए 'ॐ' का ध्यान अनिवार्य माना गया है। यह मंत्रराज 'ॐ' समस्त आध्यात्मिक विद्या का स्रोत और योग-विद्या का पुनीत केन्द्र है। न जाने कितने साधकों ने 'ॐ' के गम्भीरतर रहस्य को अधिगत करके कृत-कृत्यता प्राप्त की है।

'ॐ' इस लघुतम पद में विश्व संस्कृति की मौलिक एकता की छाप है और वह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि संस्कृति का मूल स्रोत एक ही है, भले ही विभिन्न देशों और कालों में उसने कितने ही अनोखे अनोखे रूप धारण किए हों।

हम आगे चल कर देखेंगे कि इस लघुकाय पद में किस प्रकार समग्र विश्व और समस्त मतों एवं पंथों के महनीय देवों का समावेश होता है। 'ॐ' को प्रणाम करते हुए कहा गया है—

> ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः।
> सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वदा प्रणमाम्यहम्॥

'ॐ' एक अक्षरवाला ब्रह्म है या एक मात्र अक्षर-अविनश्वर ब्रह्म है। वह परमेष्ठी का वाचक और सिद्धचक्र का बीज है। मैं उसे सर्वदा प्रणाम करता हूँ।

आर्यावर्त के प्रत्येक आत्मसाधक ने मंत्रराज के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा अर्पित की है। वास्तव में आत्मिक शक्तियों को उद्बुद्ध करने के लिए 'ॐ' का ध्यान, चिन्तन और मनन अतीव उपयोगी है।

साधक जब समाहित चित्त से 'ॐ' का ध्यान करता है और तन्मयता की एकनिष्ठ अनुभूति में लीन बन जाता है, तब उसमें उसकी समग्र विराटता प्रतिबिम्बित और समाहित हो उठती है। उसका आत्मिक सामर्थ्य अदम्य, उसकी क्षमता अप्रतिहत और उसका वीर्योल्लास अपूर्व हो जाता है।

जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि-रत्न और कामधेनु आदि दिव्य-भौतिक पदार्थों से मनोवांछित भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है वैसे ही इस क्षीरसागरवत् निर्मल शब्दराज 'ॐ' पद से आत्मा में निर्मल तथा सात्त्विक गुणों का आविर्भाव होता है।

जब 'ॐ' के जप और ध्यान से आत्मा सात्त्विक गुणों से परिपूर्ण बन जाती है तो यह स्वाभाविक ही है कि उसका भविष्य मंगलमय बने। इस दृष्टि से गीता का यह कथन समीचीन ही है कि—जो साधक एकाक्षर ब्रह्म-स्वरूप ॐ का उच्चारण करता हुआ देहोत्सर्ग करता है, वह परमा गति प्राप्त करता है। *

वेदान्तदर्शन के समर्थ विद्वान् आचार्य गौड़पाद ने ओंकार के संबंध में जो कुछ कहा है, वह भी यहां उल्लेखनीय है। वे कहते हैं—

'साधक को चाहिए कि वह ओंकार में अपने चित्त को समाहित करे, क्योंकि ओंकार ही निर्भय ब्रह्म है। जिसका चित्त नित्य ओंकार में समाहित रहता है, भय उसके निकट भी नहीं फटकता।'

'ओंकार ही परब्रह्म है और ओंकार ही अपरब्रह्म है। उसका कोई कारण नहीं, अतः वह अपूर्व है। जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो

---

* ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं, स याति परमां गतिम्॥

—भगवद्गीता, ८-१३

उससे भिन्न जातीय हो या बाह्य हो। वह अकार्य और अव्यय है।'

'समझना चाहिए कि ओंकार सबके हृदय में स्थित ईश्वर है। जो ईश्वरस्वरूप सर्वव्यापी ओंकार को जान लेता है, वह ज्ञानी पुरुष शोक से मुक्ति पा लेता है।'*

अन्त में कहते हैं—जिसने ओंकार को जाना है वही मुनि है। जो ओंकार के विराट्-विश्वव्यापी स्वरूप को नहीं जानता, उसके मर्म तक-अन्तस्तत्त्व तक नहीं पहुँचा, वह मुनि-पद का अधिकारी नहीं।'

---

* युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य, न भयं विद्यते क्वचित॥
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म, प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥
प्रणवं ईश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं, मत्वा धीरो न शोचति॥

—माण्डूक्योपनिषद्,

ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।

—वही पूर्वोक्त,

[२]

ॐ की महिमा का रहस्य

ॐ की महिमा के संबंध में जो कहा गया है, उसे पढ़ कर जिज्ञासु जन के मानस में स्वभावतः यह प्रश्न उद्भूत हो सकता है कि आखिर उसके अद्भुत एवं अचिन्त्य प्रभाव एवं माहात्म्य का रहस्य क्या है ?

वास्तव में इस प्रश्न का विशद उत्तर वही साधक दे सकता है, जिसने दीर्घकाल पर्यन्त अनन्य निष्ठापूर्वक ॐ का ध्यान और उसके विषय में चिन्तन किया हो। तथापि गंभीर विचार करके हम भी उसके महत्त्व के रहस्य का आभास अवश्य पा सकते हैं।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' यह उक्ति ओंकार के विषय में पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती है।

प्रत्येक अन्य पदार्थ के समान ओंकार के भी दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। उसका बाह्य रूप अक्षरात्मक है जो भाषा-जातीय पुद्गल-स्कंधों से निर्मित है और अन्यान्य मंत्रों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म, बल्कि सूक्ष्मतम है। किन्तु उसका आन्तरिक रूप महान् से महान् है, अति-विशाल है, विराट् है। उसे किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया सकता। उसका विस्तृत विवेचन अगले प्रकरणों में किया जाएगा।

विभिन्न इकाइयों में समाहित शक्ति यदि किसी एक इकाई में केन्द्रित कर ली जाती है तो उसमें अनेकगुणित वृद्धि हो जाती है। इस तथ्य को समझने के लिए हम अग्निकणों को ले लें। बिखरे हुए अग्निकणों में भी दाहकसामर्थ्य है किन्तु उन्हें यदि केन्द्रित कर दिया जाय तो उनका दाहकसामर्थ्य कई गुणा बढ़ जाता है। यह वृद्धि तो उस समय हुई जब अग्निकणों को सिर्फ एकत्र किया गया है और उनकी पृथक् इकाइयाँ बनी हुई हैं। अगर हम किसी प्रयोग द्वारा उन समस्त पृथक्-पृथक अग्नि-

कणों के सामर्थ्य को किसी एक कण में संक्रांत कर सकें तब तो वह सामर्थ्य इतना अधिक बढ़ जाएगा कि उसकी कल्पना करना ही कठिन होगा ।

शर्करा के प्रत्येक कण में माधुर्य विद्यमान है । यदि उन कणों को केवल एकत्र कर लिया जाय और उनका पृथक्-पृथक अस्तित्व कायम रहने दिया जाय तब भी उनके माधुर्य में वृद्धि हो जाती है। किन्तु जब शर्कराकणों की पृथक् सत्ता विलीन करके उन्हें 'सेक्रीन' के रूप में परिणत कर दिया जाता है तो माधुर्य में विस्मयजनक वृद्धि हो जाती है । शर्कराकणों की अपेक्षा सेक्रीन का बाह्य रूप-परिमाण बहुत सूक्ष्म होता है, तथापि उसका माधुर्य अत्यधिक होता है ।

जो लोग साधारण बमों की अपेक्षा सूक्ष्म परमाणु बम की, और परमाणु बमों की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर उद्जनबम की शक्ति की अधिकता को वैज्ञानिक पद्धति से समझ सकते हैं, उन्हें अन्यान्य मंत्रों की अपेक्षा सूक्ष्म ॐ मंत्र की शक्ति की प्रचण्डता को समझना कठिन नहीं होना चाहिए ।

'सेक्रीन' का माधुर्य भले ही अपूर्व-सा प्रतीत हो तथापि वह शर्करा-कणों में से ही आता है, क्योंकि 'सेक्रीन' वस्तुतः शर्कराकणों का ही सार-सत्व है । इसी प्रकार ॐ में परिव्याप्त विराट् शक्ति भी अन्य मंत्र से ही आई है और वह मंत्र है पंचनमस्कार मंत्र ।

जैसा कि आगे कहा जायगा, पंचनमस्कार मंत्र 'पूर्व' नामक विशाल श्रुतों का सार है । और ओंकार उसका भी सार है । इस प्रकार सार का सार होने के कारण ही संभवत: ओंकार में अद्भुत, असाधारण और अतर्क्य सामर्थ्य प्रादुर्भूत हो गया है ।

[३]

ओंकार की सर्वमान्यता

विश्व-साहित्य में ॐ का समकक्ष कोई दूसरा पद उपलब्ध नहीं है जिसे इतनी श्रद्धा और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। उसमें जो गूढ़ और विराट् तत्त्व समाहित है, वह किसी भी एक पद में दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि भारतवर्ष की विभिन्न धर्म-परम्पराओं ने एक स्वर से इस मंत्रराज के महिमागान में अपनी श्रद्धा के स्वर संजोए हैं। जैन, बौद्ध और विभिन्न वैदिक परम्पराएँ ओंकार के असाधारण महत्त्व की स्वीकृति में एकमत हो जाती हैं। इतना ही नहीं, भारतीयेतर ईसाई, मुस्लिम, पारसी आदि मतों के साहित्य में भी उसने सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। नीचे दिये जाने वाले कतिपय उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

ओ३म् खम्ब्रह्म।

—यजुर्वेद अ. ४०, मंत्र १७।

ओ३म् इति एतदक्षर उद्गीतमुपासीत।

—छान्दोग्य उपनिषद्।

ओ३म् इति एतत् अक्षरं इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।

—माण्डूक्योपनिषद्।

ओमित्येतत्।

—कठोपनिषद्, १-२-१५

ओमित्यात्मानं युञ्जीत।

—मैत्र्युपनिषद्, ६-३

ओमिति ब्रह्म।

—तैत्तिरीय उपनिषद्, १-८-१

ओंकार एवेद सर्वम् । *

—छान्दोग्य उपनिषद्, २-२३

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा, प्रणवात्प्रभवो हरिः ।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः, प्रणवो हि परो भवेत् ॥ ‡

—उपनिषद्

प्रणव से ब्रह्मा है प्रणव से हरि है, प्रणव से रुद्र है और प्रणव ही पर तत्त्व है ।

बौद्धों का प्रधान मंत्र है-'ओ३म् मणिपद्मे हुम् ।'

सिक्ख भाई 'एक ओंकार सद्गुरु प्रसाद' कह कर ओंकार के महत्त्व को शिरोधार्य करते हैं ।

भाषातत्त्व विदों के अनुसार फारसी भाषा में 'अलिम्' का रूप धारण करके ॐ ने स्थान प्राप्त किया है तो अंग्रेजी भाषा में OMEN के रूप में वह आसीन है ।

जैनपरम्परा के साहित्य में तो उसे उच्चतर स्थान प्राप्त है ही । एक जैनाचार्य ओंकार को नमस्कार करते हुए और उसे 'कामप्रद' तथा 'मोक्षप्रद' बतलाते हुए कहते हैं—

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

ओंकार के इस स्तव में वैदिक एवं जैन परम्परा का स्वर एक हो गया है । यह श्लोक दोनों परम्पराओं में प्रतिदिन पढ़ा जाता है ।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः' इत्यादि जैन परम्परा-

---

* इन सब उपनिषदों के उद्धरणों का करीब-करीब एक ही तात्पर्य है कि ॐ ब्रह्म है, आत्मा है और वह सब कुछ है ।

‡ 'कल्याण' गोरखपुर के साधना अंक से उद्धृत ।

प्रसिद्ध श्लोक पहले उद्धृत किया जा चुका है। इस श्लोक में ओंकार को सिद्धचक्र का बीज प्रतिपादित किया गया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ओंकार को समस्त मंत्रों में आद्य (प्रथम और उत्तम) बतलाते हुए कहते हैं—

ओंकारमिव मन्त्राणा—
आद्यं संगीत कर्मणाम् ।
सुस्वरं पूरयामासु—
र्वेणु, वैणविकोत्तमाः ।

—त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित, १-६-७०७

श्री रत्नमन्दिर गणी ने ओंकार का महिमागान इस प्रकार किया है-

ओंकारः कल्पकारस्करतिकरतिरस्कारिदातातिरेकः,
शब्द ब्रह्मकरत्नाकरहिमकिरणः कारणं मंगलानाम् ।
देयाद्वः शुद्धबुद्धि निरवधिमहिमाम्योनिधिः सार्वसिद्धा—
चार्योपाध्याय साधूनभिदधदधिकं धीमदाराधनीयः ॥

— भोजप्रबन्ध-मंगलस्मरण

अर्थात् ओंकार कल्पतरु से भी अधिक अभीष्ट प्रदान करने वाला है, शब्द ब्रह्म रूपी अद्वितीय रत्नाकर का विकास करने के लिए चन्द्रमा के समान है, मंगलों का कारण है, असीम महिमा का महार्णव है, सभी परमेष्ठिओं का वाचक है और बुद्धिमानों के लिये आराधनीय है, ऐसा ओंकार तुम सभी को शुद्ध बुद्धि प्रदान करे।

'पंचवस्तुक' में भी इसी प्रकार का आशय प्रदर्शित किया गया है— 'ओमिति परमेष्ठिपंचकमाहः कथमिति चेदुच्यते—'अ' इति अर्हत-आद्याक्षरम्, 'अ' इत्यशरीरस्य सिद्ध वाचकस्याद्याक्षरम्, 'आ' इत्याचार्यस्याद्याक्षरम्, 'उ' इत्युपाध्यायस्याद्याक्षरम्, 'म्' इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम्—अ+अ+आ+उ+म् इति, ततः सन्धिवशात् ओमिति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् एवमुक्तिः।..........ओमिति सर्वविद्या-

नामाद्य बीजं सकलागमोपनिषद्भूतं सर्वविघ्नविघातनिघ्नमखिल-दृष्टा-दृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम्, इत्यस्य प्रणिधानस्यादावुपन्यस्तं परम-मङ्गलम्, न चैतद्व्यतिरिक्तमन्यत्तवमस्ति इत्यादि ।

यहां बतलाया गया है कि 'ओं' पद पांचों परमेष्ठियों का वाचक है; क्योंकि वह परमेष्ठिवाचक अरिहन्त, अशरीर (सिद्ध), आचार्य उपाध्याय और मुनि शब्दों के आद्य अक्षरो से बना है। पद के एक देश में पदसमुदाय का आरोप होता है, इस न्याय के अनुसार ओं की यह निष्पन्ति उचित ही है ।..........'ओ' सर्व विद्याओं का आद्य बीज है, सकल आगम-उपनिषद् रूप है, समस्त विघ्नों का विघातक और मनोरथों की पूर्ति करनेवाला कल्पपादप के समान है ।

आचार्य शुभचन्द्र ने बड़े प्रभावशाली शब्दोंमें ॐ के स्मरण की पवित्र प्रेरणा की है:—

स्मर दुःखानलज्वाला-प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ।।
यस्माच्छब्दात्यकं ज्योतिः प्रसृतमतिनिर्मलम् ।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तेनैव परमेष्ठितः ।।

—ज्ञानार्णव, २८, ३१–३२

यह प्रणव (ओंकार) दुःखाग्नि की ज्वालाओं की उपशान्ति के लिए नूतन मेघ है अर्थात् समस्त दुःखों का विनाशक है आगम ज्ञान के लिए प्रदीप के समान है और पुण्यशासन है ।

ओंकार से ही अत्यन्त निर्मल शब्दात्मक ज्योति प्रकट हुई है और उसी के द्वारा परमेष्ठी का वाच्य-वाचकभाव है, अर्थात् पांच परमेष्ठी वाच्य हैं और ओंकार उनका वाचक है ।

जैनदर्शन में वाच्य और वाचक का कथंचित् भेदाभेद संबंध स्वीकार किया गया है । कहा है—

अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च । *

इस सिद्धान्त के अनुसार ओंकार की आराधना पंचपरमेष्ठी की आराधना है।

इस प्रकार उल्लिखित कतिपय अवतरणों से भलीभांति विदित हो जाता है कि महामंत्र प्रणव किसी एक सम्प्रदाय या पंथ की पूंजी नहीं है। वह सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों की ही नहीं; अन्य मतों की भी अमूल्य निधि है।

यह अनुमान करना निराधार नहीं कि प्रणव की उपासना और आराधना उस अति पुरातन काल से आर्य जाति में होती आ रही है जब विभिन्न दर्शनों एवं पंथों का जन्म ही नहीं हुआ था। समय २ पर दर्शनों और पंथों की स्थापना हुई किन्तु परम्परागत प्रणवोपासना का परित्याग उन्होंने नहीं किया। आर्य जाति जहां २ गई, अपने साथ ही महामहिम प्रणव को भी लेती गई। कालान्तर में जब अनेक देवों की कल्पना का जन्म हुआ और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं को सिंहासन पर आसीन किया गया तो 'ॐ' पद के साथ उनका भी सामंजस्य बिठलाया गया। एक नया शब्दकोष हमारे सामने आया—

ब्रह्माऽकारोऽत्र विज्ञेयः, उकारो विष्णुरुच्यते।
महेश्वरो मकारस्तु, त्रयमेकत्र तत्त्वतः।

'अ' ब्रह्मा, 'उ' विष्णु और 'म्' महेश्वर हैं। तीनों देव मिलकर 'ओं' रूप धारण करते हैं।

इस विषय का विशेष विचार अगले 'ओंकार की निष्पत्ति' प्रकरण में किया गया है। यहा केवल यही दिखलाना अभीष्ट है कि ओं की महिमा सर्वमान्य है।

---

* बृहत्कल्पभाष्य

उत्तराध्ययनसूत्र (अध्ययन २५ गाथा ३१) में एक उल्लेख है—

न ओंकारेण बंभणो

अर्थात्—ओंकार के जाप या उच्चारण से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता।

इस उल्लेख के आधार से कुछ महानुभावों की ऐसी धारणा है कि जैन परम्परा में ओंकार को स्थान नहीं है, किन्तु ऊपर दिये प्रमाणों से तथा जैन मंत्रशास्त्रों में प्रदर्शित सैकड़ों मंत्रों के अवलोकन से यह धारणा निर्मूल प्रमाणित हो जाती है। प्रायः प्रत्येक जैन मंत्र के प्रारम्भ में 'ओं' पद का प्रयोग हुआ है जो इस बात को सिद्ध करता है कि मंत्र में जो सामर्थ्य है, वह ओं के बिना प्रकट नहीं होता।

जैसा कि अन्यत्र प्रकट किया गया है, ओंकार नमस्कारमंत्र का सार-सर्वस्व है। ऐसी स्थिति में यदि नमस्कारमंत्र का जैन-परम्परा में आदरणीय स्थान स्वीकार किया जाता है तो कोई कारण नहीं कि ओंकार का भी वही स्थान न हो।

तो फिर उत्तराध्ययन के उल्लेख का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न पर थोड़ा विचार कर लें। यदि इस उल्लेख को पृष्ठभूमि पर गम्भीरता और बारीकी से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वहां बाह्य आचार या वेष का एकान्ततः महत्त्व स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण का निरसन करके आन्तरिक आचार की प्रधानता प्रतिपादित की गई है। उत्तराध्ययन की पूरी गाथाएँ इस प्रकार है:—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो।
समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

—उत्तरा० २५, ३१-३२

मुंडित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का रटन करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, अरण्य में निवास करने मात्र से मुनिपन प्राप्त नहीं होता और कुश-चीर का परिधान कर लेने से ही तापस का पद प्राप्त नहीं किया जा सकता।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तापस होता है।

ध्यानपूर्वक देखने से यह बात असंदिग्ध हो जाएगी कि यहां बाह्य क्रिया मात्र को ही श्रमणत्व, मुनित्व और तापसत्व की कसौटी मानने के अतिरिक्त दृष्टिकोण का निषेध है, मगर इन क्रियाओं का निषेध नहीं है। इस उल्लेख से जो ओंकार के जप या ध्यान का निषेध समझते हैं, उन्हें मुंडित होने का तथा अरण्यवास का भी निषेध मानना पड़ेगा। मगर ऐसा मानना जैनाचार की अनभिज्ञता का सूचक होगा।

शास्त्राकार का आशय स्पष्ट है कि सिर मुंडा लेने पर भी जब तक समताभाव जागृत नहीं होता तब तक श्रमणत्व नहीं आता। ओंकार-ओंकार रटने पर भी ब्रह्मचर्य के बिना कोई ब्राह्मण नहीं कहला सकता। बनवास करने पर भी जब तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक मुनित्व की प्राप्ति नहीं हो सकती और कुशवस्त्र धारण कर लेने पर भी बिना तपश्चरण किये कोई तापस नहीं हो सकता।

बाह्य और आन्तर-आचार का यहाँ सुन्दर समन्वय किया गया है। एकान्त बाह्याचार को प्रश्रय देने वाले जैसे सन्मार्ग वेत्ता नहीं कहे जा सकते, उसी प्रकार बाह्याचार का निषेद करके एकान्त आन्तरिक-आचार का समर्थन करनेवाले भी गलत राह पर चलते हैं। इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि को सामने रखकर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत गाथा में ओंकार-जाप का विधान है, निषेध नहीं। निषेध सिर्फ उसके एकान्त का है।

[४]

ओंकार की निष्पत्ति

ओंकार की महिमा, सर्वमान्यता और व्यापकता का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अगर ओंकार सम्बन्धी साहित्य का समग्र संकलन किया जाय तो निश्चय ही एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है।

इस प्रकरण में देखना है कि 'ॐ' शब्द किस प्रकार निष्पन्न हुआ है? इस छोटी-सी गागर में कौन-सा सागर भरा है? किस कारण मनीषी महर्षि उसके महिमागान के लिए प्रेरित हुए हैं? असंख्य मंत्रों में 'ॐ' को मूर्धन्य स्थान प्रदान करनेवाला तत्त्व क्या है?

जैसा कि पहले प्रतिपादन किया जा चुका है, ओंकार विभिन्न साधना-पंथो में लगभग सर्वमान्य है। इसी कारण उसकी निष्पत्ति भी अनेक प्रकार से की गई है। प्रत्येक निष्पत्ति उस-उस परम्परा के दृष्टिकोण की द्योतक है।

सर्वप्रथम हम जैन मान्यता को लेते हैं। जैन परम्परा में परमेष्ठी-परम-पद में स्थित-देवों और गुरुओं के पाँच विभाग किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) अरिहन्त
(२) अशरीर (सिद्ध)
(३) आचार्य
(४) उपाध्याय
(५) मुनि (साधु)

इन पाँचों परमेष्ठियों के आद्य अक्षर इस प्रकार हैं—अ-अ-आ-उ-उ-म्। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार इन अक्षरों की सन्धि करने

पर 'ओं' शब्द निष्पन्न होता है।* इस प्रकार इस 'ॐ' पद में पांचों परमेष्ठियों का अन्तर्भाव होता है।

वैदिक परम्परा ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश, यह तीन प्रधान देव: स्वीकार किये हैं, जो क्रमश: सृष्टि के जनक पालक और प्रलय कर्त्ता हैं। अतएव वे ओंकार में इन्हीं तीनों का समावेश करते हैं, जो इस प्रकार है, –'आ'[1], शब्द ब्रह्मा का 'अ'[2] विष्णु का और 'उ'[3] महादेव का वाचक है। व्याकरण के अनुसार आ×अ×उ मिलकर 'ओ' रूप बनता है। उसको नान्यतर जाति का सूचक 'मूं' प्रत्यय लगाने से 'ओं' पद निष्पन्न होता है।

किन्हीं-किन्हीं ने वासुदेव (विष्णु) वाचक 'अ' महेश्वरवाचक 'उ' और प्रजापति (ब्रह्मा) के वाचक 'म' के संयोग से 'ॐ' शब्द की निष्पत्ति बतलाई है[4]।

इन दोनों ही कल्पनाओं का अभिप्राय समान है। दोनों के अनुसार

---

* क (१) महानिशीथ–पत्र (२) आगमोदय समिति

ख अरिहता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्फण्णो, ओंकारो पंचपरमेष्ठी॥

—रत्नाकर ग्रन्थ

बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका पृ० १८२

१–२ 'अ:' श्रीकण्ठेऽव्ययं तुल्याभावयोः 'आ:' पितामहे।

—विश्वलोचनकोश

३– 'उ:' शिवे नाव्ययं तु स्यात्सम्बुद्धौ रोषभाषणे।

—पूर्वोक्त

४—अकारो वासुदेव: स्यात्, उकारस्तु महेश्वर:।
मकार: प्रजापति: स्यात्, त्रिदेवो ॐ प्रयुज्यते॥

वैदिक-सम्प्रदाय के तीनों मूर्धन्य देव 'ॐ' में समाविष्ट हो जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने 'सो ऽहं' पद से 'ॐ' की निष्पत्ति की कल्पना की है। 'सो ऽहं', भारतीय शब्द साहित्य में तो महत्त्वपूर्ण स्थान रखता ही है, जन-जीवन में भी घुल-मिल-सा गया है। वैदिक-परम्परा में इस शब्द का बहुलता से प्रयोग होता है। जैनपरम्परा में भी इसका प्रयोग देखा जाता है। जैन शास्त्र आचरांग सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में 'सो ऽहं' प्रयुक्त* हुआ है और अन्यत्र भी। इसी 'सो ऽहं' शब्द से 'ॐ' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार की जाती है—

सकारंश्च हकारञ्च लोपयित्वा प्रयुञ्जते।

तात्पर्य यह है कि 'सो ऽहं' शब्द में से 'स्' का और 'ह्' का लोप करके प्रयोग किया जाता है और जब यह दोनों व्यंजन लुप्त हो जाते है तो 'ओं' ही शेष रहता है।

स्वामी रामतीर्थ ने 'ॐ' की निष्पत्ति के सम्बन्ध में एक कमनीय कल्पना इस प्रकार की है—

'बच्चा जन्म ग्रहण करता है, उस समय उसकी प्रथम ध्वनि, 'आ-आ-आ' निकलती है। वह जब कुछ बड़ा होता है तो 'उ-उ-उ' की ध्वनि निकलने लगती है। और जब वह कुछ और वृद्धिगत होता है और उसकी बुद्धि संकेत को समझने के योग्य विकास प्राप्त

---

* पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
जा व अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि
एवमेगेसिं जं णायं भवइ अत्थि मे आया उववाइए
जो इमाओ, दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सोहं,
सव्वाओ दिसाओ-अणुदिसाओ वा जो आगओ अणुसंचरइ सोहं।

आचारांग १-१

कर लेती है तो अपनी माता के लिये 'म—म—म' उच्चारण करने लगता है। इस प्रकार 'अ+उ+म्' के संयोग से 'ओंकार' पद निष्पन्न होता है।

इस कल्पना में किसी उपास्य देव को स्थान नहीं है। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि ओंकार मानव-आत्मा की सहज स्फुरणा है, निसर्ग-जात प्रेरणा है या अन्तर में विद्यमान शक्ति का स्वाभाविक आविष्करण है।

'ॐ' के सम्बन्ध में ध्यान आकर्षित करने वाली एक कल्पना और है। इस कल्पना में उसके विराट् स्वरूप का आभास मिलता है। वह इस प्रकार है—

अ—अधोलोक

ऊ—ऊर्ध्वलोक

म्—मध्यलोक

इस प्रकार तीनों लोकों के वाचक शब्दों के प्रथमाक्षरों से निष्पन्न विराट्स्वरूप ओंकार का अभिप्राय यह है कि इसके चिन्तन, मनन और जाप से तीनों लोक हस्तामलकवत् हो जाते हैं, चिन्तनकर्त्ता त्रिलोकी का अधिपति बन जाता है और वह तीनों लोकों के शीर्षभाग—मुक्तालय—को प्राप्त कर लेता है।

लोक यद्यपि क्षेत्र-स्वरूप है, मगर क्षेत्र और क्षेत्री के अभेद की विवक्षा से अखिल विश्व का उसमें समावेश हो जाता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि 'ॐ' इस छोटे-से शब्द में सभी कुछ सन्निहित है। इस कल्पना का विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

स्वामी भूमानन्द कहते हैं—'उपनिषद् के कथनानुसार ओंकार का उच्चारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वर या व्यंजन नहीं है और वह कंठ, होठ, नासिका, जीभ, दांत, तालु और मूर्धा आदि के योग से या उनके घात-प्रतिघात के कारण उच्चारित नहीं होता।

नासिका के अन्दर से जो आकर्षण क्रिया शब्दायमान होकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठती है, उस शब्द की ओर जरा मन लगाने पर अच्छी तरह समझ में आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्ट रुप से ओंकार जैसा है। यह शब्द कण्ठ, तालु आदि के घात-प्रतिघात की अपेक्षा नहीं करता। यहां तक कि नासिकागत जो वायु उस आकर्षणात्मक क्रिया का अनुसरण करता है, उसकी भी अपेक्षा नहीं करता।

ओंकार का विश्लेषण करने पर जाना जाता है कि यह 'उ' और 'म' इन दोनों वर्णों की समष्टि मात्र है। यह ओंकार ऊपर उठने के समय क्रम से 'उ' का परित्याग करके 'म' कार में पर्यवसित या लीन होता है। यह अस्वर 'म' ही साधन है। इसी से उपनिषद् में कहा है—'अस्वरेण मकारेण यदं गच्छन्त्यनामयम्'। इस अस्वर 'म' कार का शेष अंश ही प्रणव या ओंकार है और उसका निःशब्द में लय होना ही ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति, या स्वरूप प्राप्ति है।

ॐ का उद्गम

[पंचनमस्कार मंत्र]

अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
ध्यायेत्पञ्चनमस्कारं, सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

—णमोकारमंत्रमाहात्म्य

जो मन्त्र संसार के समस्त मन्त्रों में मुकुट-मणि है, जो समस्त कामनाओं को कल्पतरु के समान फलीभूत करनेवाला है, लोक में अनुपम है, जिसके जाप और ध्यान से मलिन से मलिन आत्मा भी निर्मल, निर्विकार, निरामय और निरंजन बनकर अनिवर्चनीय एवं अलौकिक ऐश्वर्य का भागी बन जाता है, त्रिलोकाधिपतित्त्व प्राप्त कर लेता है, जिसे समग्र श्रुत-सागर का अमूल्य मुक्ता माना गया है और जिसकी साधना से कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता, वह महामहिम मन्त्रराज, नमस्कार मंत्र इस प्रकार है—

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

अर्थात् अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो ।

इस महामंत्र में पाँच पदों को नमस्कार किया गया है अतएव यह 'पंचनमस्कारमंत्र' कहलाता है ।

कोई मनुष्य पवित्र हो या अपवित्र, सुस्थित हो या दुःस्थित हो अर्थात् आत्मनिष्ठ हो या अनात्मनिष्ठ हो अथवा सोता-बैठा हो या चलता-फिरता हो, यदि वह पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान करता है तो सब पापों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या, जो सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच जन्मतः मांसभक्षी हैं और जो सर्प आदि जन्तु स्वभाव से क्रूर हैं और जिन्होंने सैंकड़ों प्राणियों का हनन किया है, सहस्त्रों पापों का आचरण किया है, वे भी अन्तिम समय इस मंत्र की आराधना करके देवगति को प्राप्त करने में समर्थ हुए।*

नमस्कारमंत्र आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक-सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला है। अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, चिंता, शोक आदि, जड़ पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न होने-वाले कष्टों तथा भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच, डाकिनी शाकिनी, चुड़ैल आदि के द्वारा उत्पन्न होनेवाली बाधाओं को शीघ्र और समूल निवारण करने में इस मंत्र के समान अमोघ साधन अन्य नहीं है। लौकिक और लोकोत्तर—दोनों प्रकार के मनोवांछित सुख इस मंत्रराज के जाप में निवास करते हैं। आप यदि बुद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, लक्ष्मी को दासी बनाना चाहते है, कीर्त्ति-कामिनी का वरण करना चाहते हैं, सिद्धि-वधु से सम्बन्ध स्थापित करने के अभिलाषी हैं, तो आपको इस मंत्रराज की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसी कोई लौकिक और लोकोत्तर कामना नहीं, जिसकी पूर्त्ति में यह समर्थ न हो।

त्रैलोक्य में ऐसी कोई महान् और स्पृहणीय वस्तु नहीं है, जो इस

---

* कृत्वा पापसहस्त्राणि, हत्वा जन्तु शतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः॥

—ज्ञानार्णव

महामंत्र के द्वारा प्राप्य न हो। अज्ञान, मोह एवं विभ्रम का जो अंधकार सहस्त्रों सूर्य नष्ट नहीं कर सकते, वह भी इस महामंत्र के प्रबल प्रभाव से विनष्ट हो जाता है।

यह पंच-नमस्कार जन्म-जन्मान्तर में किए गए समस्त पापों को विनष्ट करनेवाला है और जगत् के सर्व मङ्गलों में प्रथम मङ्गल है। इसकी महिमा प्रकट करते हुए कहा गया है—

जिणसासणस्य सारो,
चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे नवकारो,
संसारो तस्स किं कुणइ ?॥

जो जिनशासन का सार है और चतुर्दश पूर्वों से जिसका उद्धार किया गया है, ऐसा नमस्कारमंत्र जिसके मन में स्फुरित रहता है, संसार उसका क्या बिगाड़ सकता है।

एसो मङ्गलनिलओ,
भवविलओ सयलसंघसुहजणओ।
नवकारपरममंतो,
चिंतिअमित्तं सुहं देइ।

यह मंत्र मङ्गल का आवास है, भवभ्रमण का अन्त करने वाला है। परम मंत्र है और इसके चिन्तन मात्र से सुख की प्राप्ति होती है।

अपुव्वो कल्पतरु, चिंतामणि-कामकुंभ-कामगवी,
जो धायई सकलकालं, सो पावइ सिवसुहं विउलं।

नमस्कारमंत्र अपूर्व कल्पतरु, चिन्तामणि, कामकुंभ और कामधेनु के समान है। जो भद्र मनुष्य सदा इसका ध्यान करता है, वह विपुल सिद्धिसुख को प्राप्त करता है।

नवकार इक्क अक्खर, पावं फेडेइ सत्त अयराइं।
पन्नासं च पएणं, सागर पण-सय समग्गेणं।

नमस्कारमंत्र के एक अक्षर का ध्यान करने से भी सात सागरोपम काल में किये गए पाप नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण महामंत्र का ध्यान करने से पाँच सौ सागरोपमों में संचित पापों का विनाश होता है।

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीए जिणणमुक्कारं।
तित्थयरनामगोग्रं, तो पावई सासयं ठाणं।

जो पंचनमस्कार मंत्र का विधिपूर्वक एक लाख बार जाप करता है, और उसका पूजन करता है, वह तीर्थंकर नाम कर्म को उपार्जन करता है और तत्पश्चात् शाश्वत धाम को प्राप्त करता है।

अट्ठेव अट्ठसया, अट्ठसहस्सं च अट्ठकोडीओ।
जो गुणइ नमुक्कारं, सो तइयभवे लहइ मोक्खं।

जो भक्त आठ करोड़, आठ हजार, आठ सौ आठ बार, नमस्कारमंत्र का जाप करता है, उसे तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त होता है।

हरई दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भवसमुद्दं।
इह लोए पर लोए, सुहाण मूलं नमोक्कारो।

नमस्कारमंत्र दुःख को हरण करनेवाला और सुख उत्पन्न करनेवाला है। वह भव-सागर को शोषण करनेवाला और इहलोक में तथा परलोक में समस्त सुखों का मूल है।

भोयणसमए सयणे, विवोहणे पवेसणे भए वसणे।
पंचणमुक्कारं खलु, समरिज्जा सव्वकालंपि।

भोजन करते समय, सोते समय, जागते समय, कहीं प्रवेश करते समय या बैठते समय, किसी भी प्रकार का भय अथवा संकट उपस्थित होने पर सदाकाल पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिए।

जैन शास्त्रों में, प्रचुर मात्रा में ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं जिनमें नमस्कारमंत्र के अद्भुत प्रभाव और सामर्थ्य को प्रकाशित किया गया है। शूली को सिंहासन के रूप में परिणत करके सुदर्शन श्रेष्ठी के सुयश का विस्तार करना इसी महान् मंत्र का प्रभाव था। नाग जैसे

क्रूर जन्तु को धरणेन्द्र की पदवी पर पहुंचा देने वाला यही मंत्र था। कच्चे धागों बँधी छलनी से, कुएं से पानी निकालना इसी का चमत्कार था। वास्तव में इस मंत्र के प्रभाव से सर्प भी सुमनमाला बन जाता है। विष, पीयूष के रूप में परिणत हो सकता है और भयंकर प्राणहारी शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।

नमस्कार-मंत्र अनादि कालीन मूल-मन्त्र माना गया है। भूतकाल में अनंत तीर्थंकर हुए हैं, भविष्यत् में अनेक तीर्थंकर होंगे, परन्तु इस महामंत्र की आदि कोई नहीं जानता।* क्योंकि वह है ही नहीं। जिसकी सत्ता ही नहीं उसे कैसे जाना जा सकता है ?

जैन धर्म में साधना का केन्द्र बिंदु कोई व्यक्ति विशेष नहीं। वह गुणपूजक धर्म है। उसकी यह विशिष्टता प्रकृत मंत्र में भी पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुई है। यहाँ किसी भी देव विशेष को या व्यक्ति विशेष को नहीं किन्तु आत्मिक गुणों को विकसित करने वाले—आध्यात्मिक विभूति को आविर्भूत कर लेने वाले जो भी महनीय पुरुष हैं, उनको नमस्कार किया गया है। अतएव यह मन्त्र मानव-मात्र की अनमोल निधि है, किसी पन्थ, सम्प्रदाय या परम्परा में ही उसकी परिधि परि-समाप्त नहीं होती। इसी महामंत्र में प्रतिपादित पांच वन्दनीय पदों के आद्य अक्षरों से 'ॐ' की निष्पत्ति हुई है, जैसा कि निष्पत्ति प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

---

* आगे चौबीसी हुई अनन्ती,
होशे बार अनन्त।
नवकारतणी कोई याद न जाणे,
एम भाखे अरिहन्त॥

[६]

ओंकार का जाप

प्रत्येक संसारी आत्मा अपने मूल स्वरूप में सिद्ध है, बुद्ध है, शुद्ध है।* किन्तु अनादि-कालीन कर्म — आवरणों के कारण या यों कहिए कि वासनाओं के संसर्ग से उसकी शक्तियां विकृत, मलीन, या अविकसित अवस्था में हैं। यही आत्मा और परमात्मा के भेद का कारण है। उचित उपायों द्वारा जब आवरणों का पूर्णरूप से उन्मूलन हो जाता है, वासनाओं का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है तो सघन घनघटा के विघटित हो जाने पर जैसे सुधाकर अपने निर्मल-स्वच्छ स्वरूप में प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने शुद्ध चिन्मय स्वरूप का लाभ कर लेता है।

आत्मिक शक्तियों को मौलिक एवं स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट करने में ओंकार मंत्र अत्यन्त उपयोगी होता है। योगियों का अनुभव है कि ओंकार में आत्मशोधन की अद्भुत क्षमता है। यही कारण है कि इस महामन्त्र के प्रति इतनी व्यापक श्रद्धा-भावना अज्ञात काल से साधकवर्ग में चली आ रही है।

इस मन्त्र की रचना में अक्षरों का कुछ ऐसा विन्यास हुआ है, इस प्रकार का सामंजस्य है कि इसका विधिवत्, लालबद्धता के साथ, जाप करने से फेफड़ों में श्वास वायु का आवागमन इस रूप में होता है जिससे शरीर के आन्तरिक अङ्गोपांगों की जीवनी शक्ति में वृद्धि होती

---

* जारिसो सिद्ध सहावो, तारिसो सहावो सव्व जीवाणं

—सिद्ध प्राभृत

है। स्वास्थ्य स्थिर होता है, बल्कि गया हुआ स्वास्थ्य भी पुनः प्राप्त हो जाता है।

अनेक मन्त्र केवल लौकिक सिद्धियाँ प्रदान करते हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जो लोकोत्तर सिद्धि के कारण होते हैं, परन्तु ओंकार में दोनों प्रकार की सिद्धियां प्रदान करने की क्षमता है। आचार्य हेमचन्द्र ने बतलाया है कि—स्तम्भन कार्य में पीत वर्ण के, वशीकरण से लाल वर्ण के, शोभण कार्य में मूंगे के वर्ण वाले, विद्वेषण कार्य में काले वर्ण के और कर्मों का प्रक्षय करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्जवल श्वेत वर्ण ओंकार का ध्यान करना चाहिए। इस विधान से स्पष्ट है कि ओंकार का ध्यान न केवल कर्मक्षय के लिए ही उपयुक्त है वरन् विस्मय जनक लौकिक उद्देश्यों की भी पूर्त्ति करता है।*

यों तो पुरुषार्थ चार माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, किंतु इनमें साध्यभूत दो ही हैं—काम और मोक्ष। धर्म, मोक्ष का और अर्थ काम का साधन है। काम का अभिप्राय लौकिक सिद्धि और मोक्ष का मतलब लोकोत्तर आध्यात्मिक सिद्धि समझना चाहिए। ओंकार को विद्वज्जन 'कामदम्' भी मानते हैं और 'मोक्षदम्' भी। इसका भी अभिप्राय यही निकलता है कि ओंकार के ध्यान से लौकिक और लोकोत्तर—दोनों प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

ओंकार के ध्यान की विधि पर प्रकाश डालते हुए यही मुनि कहते हैं—हृदय-कमल के मध्य में स्थित, शब्द ब्रह्म-वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठी के वाचक

---

* पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम्।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम्॥

—योगशास्त्र, ८–३१

एवं मूर्धा में स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से सराबोर महामन्त्र प्रणव ओंकार का कुम्भक प्राणायाम करके ध्यान करना चाहिये ।‡

‡ तथा हृत्पद्ममध्यस्थं, शब्द ब्रह्मैक कारणम् ।
स्वर व्यञ्जनसंवीतं, वाचकं परमेष्ठिनः ।
मूर्धसंस्थित शीतांशु-कलामृतरस प्लुतं ।
कुम्भकेन महामन्त्रं, प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥

—योग शास्त्र, ८–२९–३०

[७]

जप साधना

अपने अभीष्ट मन्त्र अथवा इष्टदेव के नाम का पुनः-पुनः रटन करना जाप कहलाता है। ध्यान में मानसिक एकाग्रतापूर्वक मनन-क्रिया की प्रधानता होती है, जबकि जप में शब्दोच्चार रटन की मुख्यता है। किन्तु शब्दोच्चार की प्रधानता का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि उसमें मानसिक-अवधान की आवश्यकता नहीं अथवा एकाग्रता के लिए कोई स्थान नहीं। मानसिक अवधानहीन शब्दोच्चार मात्र फलप्रद नहीं होता। अतएव ध्यान की भांति जप में भी मन की स्थिरता अपेक्षित है। जप और ध्यान में जो भिन्नता है, वह मन की स्थिरता के तार-तम्य को लेकर ही है। अतएव जिस साधक का मन जितना अधिक एकाग्र होगा, उसका जप उतना ही अधिक फलप्रद होगा।

"तो क्या मानसिक एकाग्रता की सिद्धि के बिना जप करना ही नहीं चाहिये ?"

ऐसी बात नहीं है। जप वस्तुतः मानसिक एकाग्रता के अभ्यास का साधन है। जिस साधक का मन पर अंकुश स्थापित हो चुका है और जो उसे किसी भी एक वस्तु पर टिका सकता है, उसके लिये ध्यान की साधना अधिक उपयोगी है। किन्तु जिनकी भूमिका अभी निम्न श्रेणी की है, और जो साधना पथ पर नये ही नये अवतीर्ण हुए हैं, जो मन को निगृहीत करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, उन्हें जप साधना करना हितावह है। पवित्र शब्दों के सहारे मन को स्थिर करते करते अन्ततः ध्यानयोग की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

कुछ लोग कहते हैं कि शब्द कितने ही पवित्र क्यों न हों, बारंबार

उनकी पुनरावृत्ति करने से क्या लाभ है ? मगर ऐसा कहनेवाले जप के अर्थ को सही तौर पर समझे नहीं हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, जाप में केवल शब्दोच्चार नहीं होता, उसमें मानसिक विचारों का भी योग होता है। जप के शब्द जिह्वा ही उगलती जाती हो, ऐसी बात नहीं है। आदर्श जप वही है, जिसमें रसना और अन्तःकरण दोनों एकाकार हो जाते हैं। अतएव जिह्वा द्वारा पुनः २ उच्चारित शब्द और अन्तःकरण द्वारा ग्रहण किया हुआ उनका प्रतिबिम्ब अन्तरतर में एक अद्भुत संस्कार उत्पन्न कर देता है। वह संस्कार बार-बार के अभ्यास से पुष्ट, बलिष्ठ, और गम्भीर होता जाता है।

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निशान॥

विद्यार्थी एक ही बार किसी पाठ को पढ़कर पाण्डित्य प्राप्त नहीं कर सकता। पाषाण-शिला पर एक बार रस्सी रगड़ देने मात्र से निशान नहीं बनता। इसी प्रकार एक बार किसी शब्द का उच्चारण कर लेने से ही न चित्त समाहित हो सकता है और न निर्मित्त संस्कार बद्धमूल हो सकता है। अतएव पावन विचारों की अजस्र धारा प्रवाहित करने के लिए, उन विचारों को संस्कार का स्वरूप प्रदान करने के लिये और उन संस्कारों से अनुप्राणित होकर जीवन में दिव्यता, भव्यता और विशुद्धता लाने के लिये प्रभु का नाम बारम्बार उच्चारण करना अनिवार्य है। सामान्य साधक के लिये इससे अधिक उत्तम अन्य कोई साधन नहीं है। जप साधना में अग्रसर होता हुआ साधक ध्यानयोग मे शनैः शनैः पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है और जन्म-मृत्यु के अनादिकालीन विषम चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

'ज–प' शब्द में जो दो अक्षर हैं—'ज' और 'प'। विद्वान् 'ज' को जन्म का विनाशक और 'प' को पाप विनाशक मानते हैं।* जन्म

---

* जकारो जन्मविच्छेदः, पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तः, जन्म पाप विनाशकः॥ —आग्नेय पुराण

मरण और पाप का अन्त तब ही सम्भव है जब उल्लिखित प्रकार से जप की साधना की जाए।

जैसे रसायन के सेवन से शारीरिक शक्ति में वृद्धि होती है, उसी प्रकार जप साधना से सत्संस्कारों का निर्माण और संवर्धन होता है।

जैसे, विषहरण जड़ो से सर्प का विष निश्शेष हो जाता है, उसी प्रकार जप-साधना से मिथ्या दृष्टि और पापवृत्ति का विष उतर जाता है।

जैसे १०५ डिग्री ताप से तप्त व्यक्ति के मस्तक पर बर्फ की पट्टी बांधने से ताप मन्द हो जाता है, उसी प्रकार जप साधना से अन्तःकरण का संताप मिट जाता है और आत्मा में अपूर्व उपशमभाव का प्रादुर्भाव होता है।

जैन धर्म में तपश्चरण के बारह प्रकार बतलाए गए हैं; जिनमें अनशनादि ६ बाह्य तप हैं और विनय आदि ६ अन्तरंग हैं, जप वस्तुतः तप के अन्तर्गत है और उसमें भी स्वाध्याय तथा ध्यान नामक अन्तरंग तपों में। जप का शाब्दिक रूप स्वाध्याय के अन्तर्गत है तो मानसिक एकाग्रता-रूप अंश ध्यान की कोटि में समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार जप दो प्रकार के जपों का सम्मिश्रण है। तप का प्रभाव और महात्म्य अचिन्त्य है। उससे पूर्व संचित कर्मजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। जैन साहित्य के पारिभाषिक शब्दों में यही निर्जरा और संवर है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है। स्पष्ट है कि जप मुमुक्षु जनों के लिए अतीव श्रेयस्कर है।

गीता में 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कहकर जप की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि हिंसादि दोषों से शून्य होने के कारण जपयज्ञ अत्यन्त विशोधक है।

श्रीपादलिप्त सूरि ने जप के तीन प्रकार बतलाए हैं—(१) भाष्य (२) उपांशु और (३) मानस *। यशस्तिलकचम्पू ग्रन्थ में भी यही तीन प्रकार प्रतिपादित किए गए हैं, मगर उन्होंने 'भाष्य' जप के लिये 'वाचक' शब्द का प्रयोग किया है। शब्दभेद होने पर भी अर्थ दोनों का एक ही है। भाष्य अथवा वाचक जप में शब्दोच्चारण की प्रधानता होती है। जिस जप के शब्दों को समीपवर्त्ती दूसरे लोग सुन सकें, वह भाष्य जप है। जिस जप में स्पष्ट शब्दोच्चार न होकर सिर्फ अन्तर्जल्प होता है, जिसे दूसरा सुन नहीं सकता, उपांशु जाप कहलाता है। जो जाप वहिर्जल्प और अन्तर्जल्प दोनों से रहित होता है, और जिसमें चिन्तन का स्पष्ट रूप प्रकट होने लगता है, वह मानस जप कहलाता है।

जप के इन तीन प्रकारों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद वास्तव में जप की तीन श्रेणियां ही हैं, जो साधक की योग्यता के आधार पर वर्णित की गई हैं। प्रारम्भिक अवस्था में साधक का जप वाचिक होता है, उसमें मानस-अवधान की गहराई नहीं आ पाती। मगर लगातार के अभ्यास से वह कुछ आगे बढ़ता है—दूसरे सोपान पर आरूढ़ होता है। तब शब्दों में और मानसिक अवधान में जैसे सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इसके अनन्तर साधक तीसरे सोपान पर आरूढ़ होकर मानस जप करने में सक्षम बन जाता है।

जप के ये प्रकार उत्तरोत्तर प्रकृष्ठ और अधिकाधिक फलदायक होते हैं। भाष्य से उपांशु और उपांशु की अपेक्षा मानस जाप क्रमशः शतगुणित और सहस्रगुणित फलप्रद होते हैं।† वस्तुतः मानस जप

---

* प्रतिष्ठा कल्पपद्धति

† वचसा वा मनसा वा, कार्यो जाप्यः समाहित स्वान्ते।
शतगुणमाद्ये पुण्ये, सहस्रसंख्यं द्वितीये तु॥
—यशस्तिलकचम्पू, द्वि० भाग।

से ही ध्यान की साधना का प्रारम्भ होता है।

जप का सरल एवं प्राथमिक साधन माला है। माला में पंचपरमेष्ठी के १०८ गुणों के योग रूप १०८ मणियाँ होती हैं; एक बार अभीष्ट मन्त्र का उच्चारण करके एक बार मणिया सरका दिया जाता है और इस विधि से जप की संख्या निश्चित हो जाती है। जिस साधक के चित्त मे विक्षेप की बहुलता होती है या जिसकी स्मरण शक्ति कमजोर होती है, उसके लिये माला के सहारे जप करना ही अधिक उपयोगी है। परन्तु चित्त की एकाग्रता की दृष्टि से अपनी अंगुलियों के पर्वों पर जप करना अधिक अच्छा है।

किस अंगुली के किस पर्व से जाप आरम्भ किया जाय और किस अनुक्रम से आगे बढ़ा जाय ? इस संबंध में कोई एक निश्चित नियम नही है। विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए विभिन्न अंगुलियों से जप आरम्भ करने का विधान मिलता है। मारण-उच्चाटन आदि निकृष्ट प्रयोजन वाले अंगुष्ठ से और शत्रु-संहार की दुष्ट भावनावाले तर्जनी से जप आरंभ करते हैं। किंतु मुमुक्षु साधक को इस प्रकार की मलीमस भावना को हृदय में स्थान नही देना चाहिए। उसका जप तो पारमात्मिक गुणों की अभिव्यक्ति के एकमात्र विशुद्ध उद्देश्य से ही होना चाहिये। इस उद्देश्य के लिए अनामिका अंगुली से जाप प्रारम्भ करना प्रशस्त माना गया है।

अंगुली के पर्वों से जप करना आवृत्त जप कहलाता है। साधारणतया आवृत्त पाँच प्रकार के हैं—

१ आवृत्त
२ शंखावृत्त
३ नन्दावृत्त
४ ओंवृत्त
५ ह्रींवृत्त

आवृत्त:—अपने दाहिने हाथ की कनिष्ठिका अंगुली के नीचे के पर्व से आरम्भ करके तीनों पर्व गिनें, फिर अनामिका, मध्यमा और तर्जनी के ऊपरी तीन पर्वों की गणना करें तत्पश्चात् तर्जनी का मध्य और, नीचे का पर्व, मध्यमा का नीचे का पर्व, अनामिका का मध्य पर्व और फिर मध्यमा का मध्यम गिनें। नौ बार इस प्रकार जप करने से १२×६=१०८ संख्या होता है। यह आवृत्त शीघ्र ही शान्ति तुष्टि और पुष्टि करनेवाला माना जाता है।

शंखावृत्तः—मध्यमा अंगुली के मध्यम पर्व से आरम्भ करें, फिर अनुक्रम से अनामिका का मध्य पर्व, अनामिका का नीचे का पर्व, कनिष्ठिका का मूल, मध्यम और ऊपरी पर्व फिर अनामिका का ऊपरी पर्व, मध्यमा का ऊपरी पर्व, तर्जनी का ऊपरी, मध्यम और निचला पर्व गिनें। इस प्रकार गणना करने से शंखावृत्त होता है।

इस आवृत्त से जाप करनेवाला दैवी उपद्रवों से पीड़ित नहीं होता। उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। सुख, शांति और धैर्य प्राप्त करने के लिए यह आवृत्त उपयोगी माना जाता है।

नन्दावृत्तः—इसकी गणना का उपक्रम इस प्रकार है:—तर्जनी के ऊपर का, मध्य का और नीचे का पर्व, मध्यमा के नीचे का, अनामिका के नीचे का, मध्य का, और ऊपर का, और फिर मध्यमा के ऊपर का तथा मध्यमा के मध्य का पर्व।

इस आवृत्त में कनिष्ठिका अंगुली त्याज्य है, अतएव बारह बार उक्त क्रम से आवृत्ति करने पर एक माला पूर्ण होती है।

यह आवृत्त विशेष रूप से मांगलिक माना गया है। इसके जप से शांति, तुष्टि, पुष्टि और आरोग्य की प्राप्ति होती है।

ॐ आवृत्तः—इसका जाप मध्यमा अंगुली के मध्यम पर्व से आरंभ

होता है। तदन्तर अनामिका का मध्यम पर्व, अनामिका का ऊपरी पर्व, मध्यमा का ऊपरी, तर्जनी का ऊपरी, मध्यम और नीचे का पर्व, मध्यमा के नीचे का, अनामिका के नीचे का, कनिष्ठा के नीचे का, मध्य का और ऊपर का पर्व गिनना चाहिए।

इस आवृत्त का दूसरा अनुक्रम भी है, जो इस प्रकार है:— अनामिका के मध्यम पर्व से आरम्भ करके, मध्यमा का मध्यम पर्व, मध्यमा का नीचे का पर्व, अनामिका का नीचे का पर्व, कनिष्ठा के नीचे का, मध्य का, और ऊपर का पर्व, अनामिका का ऊपरी, मध्यमा का ऊपरी, तर्जनी का ऊपरी, तर्जनी का मध्य का, और नीचे का पर्व गिनना चाहिए।

ॐ आवृत्त का तीसरा गणना प्रकार भी है। वह द्वादश अङ्कों के बदले नव अङ्कों में भी गिना जाता है। लेकिन उसका महत्त्व अधिक नहीं माना जाता। वह इस प्रकार है:—मध्यमा का मध्यम पर्व, अनामिका का मध्य पर्व, अनामिका के नीचे का, मध्यमा के नीचे का, तर्जनी के नीचे का- मध्य का और ऊपर का, मध्यमा के ऊपर का, अनामिका के ऊपर का और कनिष्ठा के ऊपर का, मध्य का और नीचे का।

जब यही आवृत्त नव अङ्कों में गिना जाता है तो अनुक्रम इस प्रकार होता है:—मध्यमा का मध्यम, मध्यमा का ऊपरी, तर्जनी के मध्य का, मध्यमा के नीचे का, अनामिका के मध्य का, तर्जनी के ऊपर का, तर्जनी के नीचे का, अनामिका के नीचे का और अनामिका के ऊपर का।

ह्रीं आवृत्त:—सर्व प्रथम तर्जनी का ऊपरी पर्व, फिर मध्यमा का ऊपरी, अनामिका का ऊपरी, कनिष्ठिका का ऊपरी, कनिष्ठिका का मध्यम, अनामिका का मध्यम, मध्यमा का मध्यम, तर्जनी का मध्यम, तर्जनी का निचला, मध्यमा का निचला, अनामिका का निचला और कनिष्ठिका का निचला पर्व गिनना चाहिए।

ॐकार महामन्त्र का जाप करने के लिए ॐ आवृत्त सर्वोत्कृष्ट है। माला के द्वारा या ॐ आवृत्त के द्वारा ही इसका जाप करना चाहिए।

माला और आवृत्त के अतिरिक्त तीसरी जप विधि भी है जो कमल विधि कहलाती है। इसमें हृदय प्रदेश में एक श्वेत वर्ण कमल का चिंतन किया जाता है। कमल में आठ पाखुंड़ियों और प्रत्येक पांखुड़ी पर बारह-बारह पीत-वर्ण बिन्दुओं की कल्पना करके उनका चिन्तन किया जाता है। किन्तु यह विधि पहुंचे हुए साधकों के लिये ही उपयुक्त है, साधारण श्रेणी के साधकों के लिए नहीं। अतएव इसका उल्लेख मात्र ही यहां कर दिया गया है।

[८]

द्विविध साधना

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अखिल विश्व एक साधना-सदन-सा प्रतीत होता है। कौन ऐसा प्राणी है जो कामनामय न हो ? छोटा हो या बड़ा, सशक्त हो या अशक्त, विकसित हो या अविकसित, महाप्राण हो या अल्पप्राण, यहां तक कि योगी हो या भोगी, सभी में किसी न किसी प्रकार की कामना विद्यमान है। प्रत्येक जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति किसी न किसी कामना से प्रेरित ही होती हैं और कामना की पूर्ति के लिये किया जानेवाला उपाय या पुरुषार्थ ही साधना है। जहां कामना है वहां साधना है। जब तक कामना है तब तक साधना है। कामना से मुक्ति मिले बिना साधना की समाप्ति नहीं होती। अतएव जगत् के समस्त प्राणी साधना में निरत हैं।

किन्तु पूर्वकाल में अर्जित, संचित एवं सिंचित संस्कारों की और वर्तमानकालीन वातावरण तथा तज्जनित विचारों की विभिन्नता आदि के कारण सबकी कामनाएँ एक-सी नहीं होतीं। जब काम्य भिन्न प्रकार के होते हैं, तो उनकी उपलब्धि के उपायों एवं साधनों में भी भिन्नता होना स्वाभाविक है।

मूल रूप में कामनाएँ दो प्रकार की हैं—लौकिक और लोकोत्तर। संसार के अधिकांश प्राणी लौकिक कामनाओं से ग्रस्त हैं। कोई धन-सम्पत्ति के लिये समय-असमय का विचार न करके दिन-रात पच रहा है तो कोई सत्ता और प्रभुता की प्राप्ति के लिए ज़मीन-आसमान एक कर रहा है। कोई गगन-चुम्बी प्रासाद का स्वप्न देखता है तो कोई पत्नी-पुत्र-परिवार आदि की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। तात्पर्य यह है कि लोग भौतिक पदार्थों को जुटाने में ही संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे लोगों का काम्य लौकिक-भौतिक होने से उसके लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ भी लौकिक साधना के अन्तर्गत है।

मगर इस प्रकार की साधना वास्तविक साधना नहीं कही जा सकती। प्रथम तो प्रचण्ड से प्रचण्ड पुरुषार्थ करने वालों में से भी बहुतों को अभीष्ट सिद्धि-सफलता प्राप्त ही नहीं होती, कदाचित् प्राप्त हो जाय तो उनका अभीष्ट बदल कर दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। मानव की कामना में स्थिरता नहीं होती। एक कामना की पूर्ति होते न होते दूसरी अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं। जैसे अपनी प्रतिच्छाया को पकड़ लेना और क्षितिज को छू लेना सम्भव नहीं, उसी पकार अनियंत्रित कामनाओं की पूर्ति होना असंभव है। इस प्रकार एक कामना की पूर्ति होने पर सुख-सन्तोष के बदले नवीन उत्पन्न अनेक अपूर्ण कामनाएँ, चिन्ताएँ, उद्विग्नताएँ ही पैदा करती हैं।

मान लीजिये—किसी की कामना ने एक सीमा का निर्माण कर लिया और वह पूर्ण भी हो गई है। वह अब सुखी है, सन्तुष्ट है। परन्तु क्या उसका सुख और सन्तोष शाश्वत है ? जिन भौतिक पदार्थों के संयोग पर उसके सुख-सन्तोष का भव्य-भवन खड़ा हुआ है, उनके विनष्ट होते कितने क्षण लगते हैं ? परिस्थिति का एक ही झंझावात क्या उसे क्षण भर-में विलग नहीं कर देता ? तब मनुष्य का वह मधुर-स्वप्न पल-भर में समाप्त हो जाता है और वह एक करुण दारुण वेदना से अभिभूत होकर कराहता रह जाता है।

चलिए, यह भी मान लें कि उसकी सुख-सामग्री स्थायी है और पुण्य के दृढ़ बन्धन से आबद्ध होने के कारण उससे विलग नहीं होती, परन्तु उसका जीवन तो ध्रुव नहीं है। एक दिन आता है कि वह स्वयं उसे छोड़कर किसी अज्ञात रहस्यमय पथ का पथिक बन जाता है और जहां जाता है वहां नये सिरे से अपनी सृष्टि रचता है। पहले का किया-कराया सब धूल में मिल जाता है।

अब लोकोत्तर साधना के सम्बन्ध में विचार करें। आध्यात्मिक उत्कर्ष की उपलब्धि के लिए किये जाने वाले उपाय एवं प्रयास लोकोत्तर

साधना है। आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करने का अभिप्राय किसी बाह्य-पर-पदार्थ या उसके आधार पर वैशिष्ट्य प्राप्त करना नहीं है। क्योंकि वे आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति में बन्धक हो सकते हैं, साधक नहीं।

आध्यात्मिक उत्कर्ष का अर्थ आत्मा की सहज स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव करना है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो आत्मा प्रकृष्ट साधना के बल से कर्मावरणों को छिन्न-भिन्न करके अपने असली स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है—परिपूर्ण वीतरागतत्त्व प्राप्त करके अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का लाभ कर लेता है, वही परमात्पद का भागी हो जाता है।

लोकोत्तर साधना की सिद्धि के लिए भौतिक पदार्थों के आकर्षण से मुक्त होना और अन्तर्मुख बनना आवश्यक है। साधक भलीभांति जानता है कि पर-पदार्थों के संयोग में सुख समझने की अनादिकालीन भ्रान्ति ही दुःखों का बीज है। उनके प्रति जितना अधिक आकर्षण या अनुराग होगा, उतनी ही आकुलता और इतना ही अधिक क्षोभ उत्पन्न होगा। 'पर' के अवलम्बन मे दैन्य है, दुःख है। आनन्द तो आत्मा का ही स्वभाव है और इनकी प्राप्ति आत्मोन्मुख होने में ही है।

इस परम सत्य को हृदयङ्गम कर लेने के कारण साधक बाह्य सुख-साधनों से विरत और आत्म-मरण में निरत हो जाता है। वह जब अपने अन्तरतर की गहराई में डुबकी लगाता है तो उसे अपने ही अन्दर अनंत आनन्द का लहराता हुआ सागर दिखाई देता है। इस प्रकार भौतिक वस्तुओं के प्रति उसका अनुराग एवं आकर्षण क्षीण होता जाता है और सहज स्वरूप के प्रति आकर्षण बढ़ता चला जाता है। शनैः २ उसे पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है। वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परमज्योति-स्वरूप बन जाता है। यही सिद्धि है, यही मुक्ति है।

यह सिद्धि परम और चरम है, क्योंकि परपदार्थ की अपेक्षा न होने से वह शाश्वत है, अनन्त है और उसमें किंचित् भी अपूर्णता नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि लौकिक सिद्धि क्षणिक होती है, लोकोत्तर सिद्धि शाश्वत। लौकिक सिद्धि अनेक आकुलताओं की जननी है, लोकोत्तर सिद्धि अनन्त निराकुलता को उत्पन्न करती है। लौकिक सिद्धि से आत्मा का भव-भ्रमण बढ़ता है, लोकोत्तर सिद्धि जन्म-मरण के चक्र-व्यूह से बाहर निकाल देती है। एक बार उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ भी प्राप्य नहीं रह जाता। ध्रुव कृतकृत्यता और निष्काम प्रदान करती है।

इसी कारण विश्व के मनीषी लोकोत्तर साधना में ही परम निश्रेयस् मानते हैं।

[६]

साधना की समग्रता

'साधना' शब्द से यहां लोकोत्तर साधना ही अभिप्रेत है, क्योंकि वही साधक को कृतार्थता प्रदान करती है।

प्रश्न यह है कि जिस साधना से आत्मा को पारमात्मिक गुणों की प्राप्ति होती है, आत्मा के समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और वह अपनी असीम समृद्धि के अक्षय कोष का अधिकारी बन जाता है, उसका स्वरूप क्या है ?

इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो अनेक दृष्टिकोण हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। उनमें से एक बहुप्रचलित दृष्टिकोण साधना के तीन रूप स्वीकार करता है—ज्ञान, कर्म और भक्ति।* शास्त्रों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि का अवलम्बन ज्ञानमार्ग है। निष्काम भाव से अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप अनुष्ठान करना कर्ममार्ग है। इसमें दान, यज्ञ-याग, जप, तप, व्रत, नियम आदि कर्त्तव्यों का समावेश होता है। चित्तवृत्ति का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से भगवान् मे लगा रहना अथवा भगवान् में अनुराग या अनन्य प्रेम होना भक्ति है। प्रभु का स्तवन, संकीर्त्तन, गुणगान आदि भक्ति में ही अन्तर्गत है।

बौद्धधर्म भावना-प्रचय को मुक्ति का साधन मानता है। अखिल विश्व क्षण विनश्वर है, दुःखमय है, अशुचि है, पुनः-पुनः इस प्रकार का चिन्तन करने से भावनाप्रचय होता है। इसमें चित्त की समलता का

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता, नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च, नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

—भागवत, ११–२०–६

विनाश और निर्मलता का विकास होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सांख्य नैयायिक आदि कतिपय दर्शन तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति-लाभ का प्रतिपादन करते हैं।

इस प्रकार साधना के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। किंतु उक्त तीन मार्गों में ही किसी न किसी रूप में सब का समावेश हो जाता है। मगर देखना यह है कि क्या उक्त तीन मार्ग परस्पर निरपेक्ष होकर साधक को उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं ? क्या ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन मार्ग हैं अथवा तीनों का समन्वित रूप एक साधनामार्ग है ? कतिपय लोगों की धारणा है कि उपर्युक्त तीन साधनों में से किसी भी एक साधन के द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मगर यह धारणा न तो तर्क से और न अनुभव से ही समीचीन प्रतीत होती है। कर्म यदि सुविहित-सुआख्यात हो तो भी वह ज्ञान-निरपेक्ष होकर कार्यकारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्रियाशून्य ज्ञान भी सिद्धिप्रद नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि सभी मुमुक्षु साधकों की रुचि, योग्यता या पात्रता एक-सी नहीं होती। एक ही साधक का स्तर भी सदैव समान नहीं रहता और शास्त्रकारों ने सभी को साधन सुलभ करने का प्रयत्न किया है। तथापि इससे साधना के स्तर में ही भेद हो सकता है, मार्ग मे नही। प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति किसी एक कारण से कदापि नहीं होती, उसके लिये कारणों की समग्रता अनिवार्य है। इस नियम के अनुसार मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिन कारणों की अनिवार्य आवश्यकता है, उनकी समग्रता ही साधना का राजमार्ग हो सकता है।

जैन धर्म प्रत्येक क्षेत्र में अनेकान्तवाद को प्रश्रय देता है, क्या तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में और क्या साधना-क्षेत्र में, उसका दृष्टिकोण सदा-सर्वदा अनेकान्तात्मक ही रहता है। इस दृष्टिकोण के अनुरूप उसने सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्-क्रिया को सम्मिलित को साधना का स्वरूप स्वीकार किया है।* वस्तु-स्वरूप को जान लेने मात्र से अथवा अनजाने क्रिया करने मात्र से सामान्य लौकिक सिद्धियां भी प्राप्त नहीं की जा सकती तो अनादिकालीन विकार-संस्कारों की गहरी जड़ों का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है ? आत्मिक विकास की उच्चतम भूमिका किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ?

जो रोगी निरोग होना चाहता है, उसे रोग के स्वरूप को समझना पड़ेगा, रोग के कारणों को जानना पड़ेगा और उसके निवारण के लिए उपयुक्त औषध को भी समझना होगा। किंतु यह सब जान लेने से ही नीरोगता प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके लिए औषध का सेवन भी करना पड़ता है।

स्पष्ट है कि न तो औषध के ज्ञान मात्र से आरोग्य लाभ किया जा सकता है और न अनजाने किसी भी औषध के सेवन से ही। आरोग्य लाभ के लिए औषध का ज्ञान और सेवन दोनों जैसे अनिवार्य हैं, उसी प्रकार आत्म शुद्धि के लिये ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता होती है।

आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र में साधना का अनुक्रम प्रदर्शित करते हुए कहा है—‡

साधक के लिए आवश्यक है कि वह प्रथम सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें, फिर तदनुकूल अनुष्ठान को अपनाएँ क्योंकि अज्ञानी प्राणी अपने श्रेयस अश्रेयस को नहीं समझ सकता।

जो साधक जड़-चेतन के भेद को नही जानता वह संयम को भी नहीं जान सकता। संयम के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये जड़ और चेतन के स्वरूप का भान होना अनिवार्य है।

---

* नाणकिरियाहिं मोक्खो।

‡ देखिये दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ गाथा १०–२५।

जड़-चेतन का स्वरूप परिज्ञान हो जाने पर ही जीवों की नाना गतियों एवं योनियों का परिज्ञान होता है और तब पुण्य और पाप की कसौटी हाथ लगती है।

जब पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष की कसौटी हाथ आती है तो साधक के चित्त को दैवी और मानवी भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है।

जब भोग के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है तब साधक बाह्य-संयोग-धन-धान्य, पुत्र कलत्र आदि और आभ्यान्तर संयोग—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि–का त्याग कर देता है।

बाह्याभ्यन्तर संयोग का त्याग कर देने पर प्रव्रज्या अङ्गीकार करता है, तदन्तर उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म की आराधना करके कर्म-रज को हटा देता है और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होकर परमात्मपद प्राप्त करता है।

परमात्मपद प्राप्त होने पर आत्मा जीवन्-मुक्त दशा का अनुभव करने लगता है और फिर अनुक्रम से विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

इस प्रकार ज्ञानार्जन से प्रारम्भ हुई साधना क्रियात्मक बनकर विदेह-मुक्ति में पर्यवसित होती है।

अनेकान्तवाद का यह समन्वयवादी स्वर जैन परम्परा की परिधि में ही नहीं घिरा रह सका। बाहर भी उसकी गूंज सुनाई देती है। महर्षि हारीत ने भी उसी स्वर को दोहराते हुए कहा है—जैसे पंछी आकाश में दोनों पंखों के सहारे ही गति कर सकता है, एक पंख से नहीं, उसी प्रकार शाश्वत ब्रह्म की उपलब्धि ज्ञान और क्रिया के समुचित समन्वय से ही सम्भव है।*

कुछ लोग समझते हैं कि अकेले ज्ञान से या कर्म से या अकेली भक्ति से साधना सफल हो सकती है, वे भ्रम में हैं।

---

* उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां, प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥

—हारीतसंहिता

वह बटोही कैसे अपनी मंजिल तक पहुँचेगा जिसे यही मालूम नहीं कि मंजिल क्या है, कहाँ है ? मंजिल तक पहुंचने की राह कौन-सी है ? जो नेत्र बन्द करके चला जा रहा है और चलता ही जा रहा है, वह जीवन पर्यन्त चलने के पश्चात् भी अन्त में असफलता का ही भागी होता है।

इसी प्रकार जो साध्य के स्वरूप को समझता है, साधनों से भली-भांति अभिज्ञ है और पथ से परिचित है, अपने प्रखर पाण्डित्य से साधना के सम्बन्ध में प्रभावशाली प्रवचन करके दूसरों का पथ-प्रदर्शन कर सकता है, वह यदि साधना के पथ पर एक डग भी नहीं रखता तो किस प्रकार सम्भव है कि यह अपनी मंजिल तक पहुंच सकेगा ?

जैनागमों में कहीं २ ज्ञान और क्रिया (चारित्र) के साथ सम्यग्-दर्शन को भी साधना का अङ्ग स्वीकार किया गया है‡ और कहीं सम्यक्‌तप को सम्मिलित करके साधना का चतुर्मुखी स्वरूप माना गया है† किंतु इसमे विरोध जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह विभिन्न योग्यता के पात्रों को समझाने की शैली है। सम्यग्दर्शन का ज्ञान में और तप का क्रिया में समावेश होता है। कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में प्रति-पादन करना सहृदय शास्त्रकारों की पद्धति रही है।

उल्लिखित ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग भी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक्‌तप में समाविष्ट हो जाते हैं। ज्ञानमार्ग सम्यज्ञान में, कर्ममार्ग सम्यक्चारित्र में और भक्तिमार्ग सम्यक् तप में समाविष्ट है।

---

‡ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्त्वार्थ सूत्र

† नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥

—उत्तरा० २२-३

हाँ, यह नहीं भूल जाना चाहिए कि जैनधर्म का अपना एक विशिष्ट मौलिक और उदार दृष्टिकोण है। अपने दृष्टिकोण के वैशिष्ट्य के कारण उसकी कर्म आदि की व्याख्याएँ भी विशिष्ट हैं।

जैनधर्म आश्रम व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता और वर्ण व्यवस्था को सिर्फ सामाजिक व्यवस्था मानता है। वह मानव-मानव के बीच कोई जन्मजात उच्चता-नीचता स्वीकार नहीं करता। सबको समान अवसर और अधिकार के सिद्धान्त की हिमायत करता है। अतएव लोकोत्तर धर्म-साधना में आश्रम या वर्ण के भेद से कर्म (चारित्र) का भेद वह अनुचित मानता है। यह सम्भव नहीं कि ब्राह्मण होने के कारण एक व्यक्ति शास्त्र का पठन-पाठन करके मोक्ष प्राप्त करे और दूसरा शूद्र होने के कारण सेवा द्वारा वही मोक्ष प्राप्त कर ले; वास्तव में साधक मात्र के लिये, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रम में हो, कर्म या सम्यक्चारित्र का एक ही रूप है।

अलबत्ता परिस्थिति और योग्यता सबकी समान नहीं होती, अतएव उनके विकास एवं विकास के वेग में अन्तर हो सकता है, किंतु चरम विकास करने का अधिकार सबको समान है। उनके विकास का मार्ग भी एक ही है।

भक्तिमार्ग के विषय में अलग परिच्छेद में विचार करेंगे।

---

[१०]

साधना का सर्वस्व : मनोविजय

आत्मा के अस्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन, आत्म-व्यापारों का सर्वाधिक प्रभावशाली और समर्थ वाहन तथा इस विराट् जगत् के साथ आत्मा का अनुसन्धान करने वाला मन ही है। मन आत्मा का वह अद्भुत द्वार है जिससे चिन्तन-मनन सामने आते हैं। मन चेतन-देव का महामात्य है, जिसके बिना उसका घड़ी भर भी काम नहीं चलता। सचमुच मन में असाधारण क्षमता है, वेग है। हम जो भी सोचते, समझते, चिन्तन करते और तर्कणा करते हैं, सब मन की शक्ति के द्वारा ही करते हैं।

मन स्वयं आत्मा की मूल्यवान् शक्ति है। परन्तु शक्ति का उपयोग सदैव दोहरा होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शक्ति दुधारी तलवार है। शक्ति के सदुपयोग से जहां शक्तिमान् को बल और सफलता मिलती है, वहीं दुरुपयोग से उसका विघात, ह्रास और पतन होता है। मन के विषय में भी यह सत्य पूरी तरह लागू होता है।

हमारे भावी श्रेयस्-अश्रेयस् का मन के साथ कितना सम्बन्ध है, यह तथ्य अनुभवियों की इसी उक्ति से प्रकट है:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

आत्मा का बन्धन और मोक्ष मनोव्यापारों पर निर्भर है। मन उसे प्रगाढ़ बन्धनों में आबद्ध करके नरक और निगोद की स्थिति में भी ले जा सकता है और मुक्तिधाम में भी पहुंचा सकता है।

मन के इसी महत्त्व के कारण उसकी साधना का विशेष महत्त्व है। मन की साधना के विषय में आत्मवेत्ता महर्षियों ने बहुत सोचा और

लिखा है। यहां तक कि शास्त्र की एक पृथक् शाखा का निर्माण किया है और उसके निग्रह की विधि प्रदर्शित की है।

मन अत्यन्त चंचल है, साहसिक है और हठीला है। जैसे गेंद को नीचे पटका जाय तो वह और अधिक ऊपर उछलती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों वह अधिक गतिशील होने लगता है। ऐसी स्थिति में उस पर नियंत्रण स्थापित करना आसान नहीं, तथापि असम्भव भी नहीं है। मन कितना ही जबर्दस्त क्यों न हो, आखिर तो आत्मा का ही एक उपकरण है। आत्मा उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न है। अतएव उसका निग्रह सम्भव है। गीता में कहा गया है—निसन्देह मन चपल है और उसे नियंत्रित करना कठिन है, तथापि लगातार अभ्यास करने से और वैराग्य का आश्रय लेने से वह वशीभूत हो सकता है।* 'योग-सूत्र' ने भी गीता का समर्थन किया है।‡

महाप्राण केशी श्रमण ने गौतम स्वामी के समक्ष रहस्यपूर्ण शब्दों में एक समस्या रक्खी—गौतम ! यह दुष्ट अश्व बड़ा साहसी—सहसा प्रवृत्ति करनेवाला और भयानक है। तुम इस पर आरूढ़ हो किंतु यह तुम्हारा अपहरण नहीं कर पाता। इसका क्या कारण है ?

गौतम, केशी के इंगित को तत्काल समझ गए। बोले—जब यह हठीला घोड़ा भागने लगता है तो मैं इसे 'श्रुत' की लगाम लगाकर थाम

---

* असंशयं महाबाहोः मनो दुर्विग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥

—गीता अ० ६० श्लोक ३५

‡ अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

—योगसूत्र

लेता हूं। लगाम से थाम लेने के बाद यह उन्मार्ग में जाने से रुक जाता है और समीचीन मार्ग पर ही चलता है।

प्रश्न और उत्तर हो गया किन्तु गांठ अनखुली रह गई। तब केशी स्वामी ने पूछा—गौतम ! आखिर यह अश्व है कौन ?

गौतम ने कहा—महाराज ! यह मन ही दुष्ट अश्व है, जिसे मैं 'धर्मशिक्षा' से वशीभूत करता हूं।†

गीता और योग सूत्र के शब्दों में अभ्यास और वैराग्य कह लीजिए, चाहे उत्तराध्ययन सूत्र के शब्दों में 'धर्मशिक्षा' कहिए, कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि मन का निग्रह किया जा सकता है। वह दुर्जेय भले हो, अजेय नहीं है। उस पर पूरी तरह नियन्त्रण स्थापित करने के लिये धर्म शिक्षाओं पर अमल करना आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने मनोविजय के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर कहा है*—निरंकुश मन राक्षस है जो निःशंक होकर दौड़धूप करता रहता है और तीनों जगत् के जीवों को संसार रूपी गड्ढे में गिराता है।

---

† अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयमः आरूढो, कहं तेण न हीरसि॥
पधावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मार्गं, मग्गं च पडिवज्जइ।
आसे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसीमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी।
मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं।

—उत्तराध्ययन, २३–५५–५८

*योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकाश।

आंधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक और तीव्र तपश्चर्या करने वाले मनुष्य को भी कही का कहीं ले जाकर पटक देता है। अतः मन का निरोध किये बिना जो योगी होने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार हँसी का पात्र बनता है जैसे कोई पंगु पुरुष एक गांव से दूसरे गांव जाने की इच्छा करके हास्यास्पद बनता है।

मन का विरोध होने पर कर्म भी पूरी तरह से रुक जाते हैं क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है। जो पुरुष मन का विरोध नहीं कर पाता, उसके कार्यों की अभिवृद्धि होती रहती है। अतएव जो कर्मों से मुक्ति चाहते हैं, उन्हें समग्र विश्व में भटकने वाले लंपट मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदि मन की शुद्धि हो गई है तो समझ लीजिये कि अविद्यमान क्षमा आदि गुण भी विद्यमान ही हैं, क्योंकि मनः शुद्धि वाले उन गुणों का फल सहज ही प्राप्त हो जाता है। यदि मनः शुद्धि नहीं हुई है तो क्षमा आदि गुणों का होना भी न होने के समान है।

जो मन को शुद्ध किये बिना मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे नौका को त्याग कर भुजाओं से महासागर को पार करना चाहते हैं।

जैसे अंधे के लिये दर्पण व्यर्थ है; उसी प्रकार मन की शुद्धि किये बिना तपस्वी का ध्यान करना निरर्थक है। मन की शुद्धि के अभाव में तपश्चरण, श्रुताभ्यास एव महाव्रतों का पालन करके काया को क्लेश पहुँचाने से क्या लाभ !

मन की शुद्धि करके ही राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की जाती है, जिसके प्रभाव से आत्मा मलीनता को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है।

[११]

ध्यान-योग

ध्यान का स्वरूप

जैसा कि बतलाया जा चुका है. मनुष्य का मन प्रचण्ड पवन के आघात से क्षुब्ध सरोवर के समान है। वह कभी इस वस्तु का तो कभी उस वस्तु का चिन्तन करता रहता है। उसमें स्थिरता नहीं होती वह निरंतर चंचल बना रहता है। इस चंचलता को रोक कर उसे एक निष्ठ बनाना ही ध्यान है।*

आचार्य नेमिचन्द्र ने परम ध्यान का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है– शरीर से कोई चेष्टा मत करो, वाचनिक व्यापार को बंद कर दो और मन से चिन्तन मत करो। इस प्रकार करने से मन वचन और काम के व्यापार का निरोध हो जाएगा। यह आत्मनिर्भरता या तल्लीनता ही परम ध्यान है।

उल्लिखित दोनों लक्षणों में किंचित् पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। प्रथम लक्षण में मनोव्यापार को किसी भी एक ध्येय वस्तु में स्थापित करना ध्यान बतलाया गया है जबकि दूसरे लक्षण में मनोव्यापार का निरोध करके आत्मा का आत्म में लीन होना ध्यान कहा गया है। किन्तु यह पार्थक्य ध्याता की भूमिका के भेद के कारण हैं। इसमें तात्त्विक भेद नहीं। ध्यान की प्रारंभिक स्थिति में राग-द्वेष आदि का निवारण करने के लिए सविकल्प ध्यान ही संभव है। उसमें परद्रव्य का चिन्तन होता है। किन्तु जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तो शुद्ध-बुद्ध स्वभाववात्

---

* उत्तमसंहननस्यैकाग्र चिन्ता विरोधो ध्यानम्। अ. ९.२८ –तत्त्वार्थसूत्र,
मुहूर्त्तान्तर्मनः स्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्।

—आचार्य हेमचन्द्र

निजात्मा ही ध्येय रह जाता है। उस समय पंचपरमेष्ठी आदि पर द्रव्य नहीं रहते। उस स्थिति में ध्यान, ध्याता और ध्येय का विकल्प हट जाता है। आत्मा ही ध्यान बन जाता है। यह उच्चकोटि का ध्यान निर्विकल्प या परम ध्यान कहलाता है।

ध्यान करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, आत्मज्ञान से कर्म का क्षय होता और कर्म क्षय से मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव ध्यान आत्मा के कल्याण का कारण है।*

ध्यान के माध्यम से ही मुनिजनों को निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग को प्राप्ति होती है, अतएव चित्त की एकाग्रता साध कर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।‡

ध्याता

मगर ध्यान की सिद्धि के लिये अनिवार्य योग्यता पहले प्राप्त कर लेना आवश्यक है। कषाय विजय के बिना आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। कषाय विजय के लिए इन्द्रिय विजय अपेक्षित है, इन्द्रिय विजय के लिए मनः शुद्धि आवश्यक है, मनः शुद्धि के लिए रागद्वेष को जीतना आवश्यक है, राग-द्वेष को जीतने के लिए समभाव का अभ्यास चाहिये और उसके लिए निर्ममत्व भाव अनिवार्य है, इस प्रकार कार्य कारणभाव की प्रक्रिया पूर्ण होने पर ध्यान की योग्यता प्रकट होती है। इतनी योग्यता प्रकट होने पर ध्यान करने में

---

* मोक्ष : कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च तद् ध्यानं हितमात्मनः।
—योगशास्त्र, ४, ११३.

‡ दुविहं पि मुक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥
—बृहद्द्रव्य संग्रह, ४७

सफलता प्राप्त होती है। आचार्य नेमिचन्द्र ने बतलाया है कि जो साधक अपने चित्त को स्थिर करना चाहता है अर्थात् ध्यानसाधना में सफल होना चाहता है, उसे इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष और मोह की वृत्तियों से दूर हो जाया चाहिये। इसके अतिरिक्त जो साधक तप, श्रुत और व्रत का धारक होता है, वही ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण कर सकता है, अतएव ध्यान की प्राप्ति के लिए तप, श्रुत और व्रतों की आराधना करना अनिवार्य है।†

आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान करने वाले साधक में निम्न लिखित गुणों की संख्या प्रतिपादित की है—

(१) संयम के प्रति इतनी गहरी निष्ठा हो कि प्राण-सङ्कट में आने पर भी उसका परित्याग न करें।
(२) समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझे।
(३) ध्येय-लक्ष्य से च्युत न हो।
(४) सर्दी, गर्मी या वायु से खिन्न न हो।
(५) योग रूपी अमृत-रसायन का पान करने का इच्छुक न हो।
(६) राग-द्वेष से आक्रान्त न हो।
(७) क्रोधादि कषायों का विजेता हो।
(८) मन को आत्माराम में रमण करानेवाला हो।
(९) सब कर्मो मे अलिप्त रहे।
(१०) कामभोगों से विरक्त हो।

---

† मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठनिट्ठ अट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए।
तवसुदवदवं चेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियनिरया तल्लद्धीए सदा होह॥
—बृहद्द्रव्य संग्रह, ४८, ५७.

(११) शरीराशक्ति से परे हो।

(१२) संवेग के सरोवर में निमग्न रहता हो।

(१३) शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निंदा-स्तुति, मान-अपमान में सम-भाव रखने वाला हो।

(१४) सबके कल्याण का अभिलाषी हो।

(१५) करुणावान् हो।

(१६) सांसारिक सुखों से विमुख न हो।

(१७) परीषह-उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह अचल रहे।

(१८) चन्द्रमा के समान सौम्य और वायु के समान निःसंग हो।

(१९) प्रशस्त बुद्धि वाला हो।

ध्येय

ध्यान के स्वरूप और ध्याता की योग्यता को समझ लेने के साथ ही 'ध्येय' को जान लेना भी आवश्यक है। ध्यान-अवस्था में मन जिस वस्तु पर केन्द्रित किया जाता है या जिसका चिन्तन किया जाता है, वह ध्येय कहलाता है।

ध्येय चार प्रकार के होते हैं—(१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **पिण्डस्थः**—पिण्ड अर्थात् शरीर में स्थित आत्मा। उसका चिन्तन जिस ध्यान में किया जाता है वह पिण्डस्थ कहलाता है। शरीरस्थ आत्मा का ध्यान करने के लिये पाँच प्रकार की धारणाओं का अवलम्बन करना पड़ता है—(१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) मारुती (४) वारुणी और (५) तत्त्वभू।

(१) जिस पृथ्वी पर हमारा निवास है, उसका नाम मध्यलोक है। इस मध्यलोक के बराबर विशाल क्षीर- सागर का चिन्तन करना चाहिए। क्षीरसागर में जम्बूदीप के बराबर एक लाख योजन विस्तार वाले, स्वर्ण के समान आभा वाले और हजार पंखुड़ियों वाले कमल का

चिन्तन करना चाहिए। उस कमल के मध्य में केसराएँ हैं और पीत-वर्ण की प्रभा से युक्त और मेरु पर्वत के बराबर एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है। उस कर्णिका के ऊपर एक अतीव उज्ज्वल सिंहासन है, जिस पर मैं आसीन हूं और कर्मों का क्षय करने में उद्यत हूं। ऐसा चिन्तन करना पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा में नाभि के भीतर सोलह पांखुड़ियों के कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की कर्णिका पर 'अर्हं' स्थापित करना चाहिए और प्रत्येक पत्ते पर अनुक्रम से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, यह सोलह स्वर स्थापित करना चाहिए।

तत्पश्चात् हृदय में आठ पंखुड़ियों के कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी पंखुड़ी पर अनुक्रम से ज्ञानावरण आदि आठ कर्म स्थापित करना चाहिए। यह कमल अधोमुख हो। तत्पश्चात् रेफ, कला और बिन्दु से युक्त, 'हँ' इस अक्षर के रेफ में से धीमी–धीमी निकलने वाली धूमशिखा का चिन्तन करना चाहिए। फिर उसमें से अग्नि की चिनगारियों के निकलने का, फिर ज्वालाओं का चिंतन करना चाहिए। इन ज्वालाओं से हृदय स्थित पूर्वोक्त आठ दलों वाले कमल को दग्ध करना चाहिए और सोचना चाहिए कि महामंत्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि अवश्य ही कर्मयुक्त कमल को भस्म कर देती है।

तत्पश्चात शरीर से बाहर त्रिकोण स्वस्तिक से युक्त और अग्नि-बीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए बह्निपुर का चिन्तन करना चाहिये। तदन्तर शरीर के अन्दर महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से बाहर की बह्निपुर की ज्वाला देह से और कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि शान्त हो गई है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। यह आग्नेयी धारणा है।

(३) आग्नेयी धारणा के पश्चात् प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना चाहिये और सोचना चाहिए कि देह और आठ कर्मों के जलने से जो राख बनी थी; वह उड़ रही है। ऐसा दृढ़ चिन्तन करके पवन को शान्त कर देना चाहिये। यह वायवी धारणा है।

(४) वारुणी धारणा में अमृत सी वर्षा करने वाले और मेघ मालाओं से व्यस्त आकाश का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् अर्ध-चन्द्राकार कला बिन्दु से युक्त वरुण बीज 'वँ' का चिन्तन करना चाहिये। फिर यह चिन्तन करना चाहिये कि 'वँ' से उत्पन्न अमृत के समान जल से आकाशतल भर गया है और पहले उड़ी हुई भस्म इस जल से धुल कर साफ हो रही है।

(५) पूर्वोक्त चार धारणायें करने के पश्चात् रस रक्त आदि सात धातुओं से रहित, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल एवं उज्ज्वल क्रान्ति वाले तथा सर्वज्ञ के समान शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

तत्पश्चात् सिंहासन पर आरूढ़, सर्व अतिशयों से सुशोभित, समस्त कर्मों का विध्वंस करने वाले, उत्तम महिमा से सम्पन्न अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान के प्रभाव से मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। इसका निरन्तर अभ्यास करने से मारण उच्चाटन आदि विद्याएँ, तथा सिंह सर्प आदि हिंसक प्राणी दूर रहते हैं। वे इस योगी के तेज को सहन नहीं कर सकते।*

(२) **पदस्थ** पवित्र मंत्राक्षर रूप पदों का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थध्येय के कारण पदस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में चिन्तनीय पद अनेक प्रकार के हैं। साधक अपनी रुचि

---

* देखिये योग शास्त्र का सप्तम प्रकाश।

या इच्छा के अनुसार उनमें से किसी का भी ध्यान करता है। पैंतीस अक्षर वाले नमस्कार मंत्र का 'अरिहंत-सिद्ध-आयरिय उवज्झाय साहू' इस षोडशाक्षरी विद्या का, 'अरिहंतसिद्द' इस षडक्षरी मंत्र का, 'अ-सि-आ-उ-सा' इस पंचाक्षरी का, 'ॐ अर्ह' का अथवा एकाक्षरी मंत्र 'ॐ' का ध्यान किया जाता है।

(३) **रूपस्थ** समवसरणमें स्थित अरिहन्त परमात्मा रूपस्थ ध्येय हैं। उनका चिन्तन करना रूपस्थ ध्यान है। इस ध्यान में ध्यान में ध्याता को ऐसा चिन्तन करना चाहिए-समस्त कर्मों को विध्वस्त कर देने वाले, देशना के समय देव रचित तीन प्रतिबिम्बों के कारण चतुर्मुख दिखाई देने वाले, तीन उज्ज्वल छत्रों से सुशोभित, सूर्यप्रभा का भी तिरस्कार करने वाला या मंडल जिनके पीछे जगमगा रहा है, दिव्य दुदुभि का निर्घोष जिनकी आध्यात्मिक सम्पदा का गान कर रहा है, गुजार करते हुए भ्रमरों की झंकार से शब्दायमान अशोक वृक्ष से सुशोभित, सिंहासन पर आसीन, चामर जिन पर ढोरे जा रहे हैं, सुरेन्द्र-असुरेन्द्रों द्वारा जो वन्दित है, जिनके प्रभाव से जन्मजात वैर वाले सिंह-हरिण आदि प्राणी निर्वैर हो गए हैं, जो केवल ज्ञान के लोकोत्तर प्रकाश से जगमगा रहे हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान् समवसरण में विराजमान हैं।

इस ध्यान में तन्मयता प्राप्त हो जाने पर साधक अपने आपको स्पष्ट रूप सर्वज्ञ के रूप में देखने लगता है। जब तक उसका मन वीतराग-भाव में रमण करता है, तब तक वह वीतरागभाव की ही अनुभूति करता है।

(४) **रूपातीत** निरंजन, निराकार, चेतन्यस्वरूप सिद्ध परमात्मा रूपातीत ध्येय है। जिस ध्यान में उसका चिन्तन किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।

जो साधक क्रमशः पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, वही रूपातीत ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकता है।

इस ध्यान के प्रभाव से ध्येय और ध्याता का विकल्प समाप्त हो जाता है और ध्यान, ध्याता, ध्येय तीनों एकाकार हो जाते हैं। ध्याता की ध्येय के साथ एक रूपता हो जाती है।

भेद-प्रभेद—प्राणी की चिन्तन धाराएँ यों तो असंख्य प्रकार की हैं, किन्तु उन्हें चार भागों में विभक्त किया है। वही ध्यान के चार भाग कहलाते हैं। यथा—(१) आर्त्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, रोग और भोग कामना से प्रेरित चिंतन धारा आर्त्तध्यान कहलाती है। हिंसा, असत्य आदि पापों का आचरण करने के उद्देश्य से होनेवाले विचार रौद्रध्यान में सम्मिलित हैं। जिनाज्ञा आदि का विचार धर्मध्यान है और उच्चश्रेणी का अतिशय उज्ज्वल ध्यान शुक्लध्यान है। यह चारों ध्यान भी चार-चार प्रकार के हैं।

चार ध्यानों में आदि के दो—आर्त्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं। उन्हें अपध्यान या पापध्यान कहा जा सकता है। शुक्लध्यान इस देश-काल में संभव नहीं है। इस काल में साधक के लिए धर्मध्यान ही एकमात्र आलम्बन है। अतएव अन्यान्य ध्यानों के विस्तार में न जाकर यहां धर्मध्यान का ही परिचय दिया गया है। धर्मध्यान के अन्य प्रकार से भी चार भेदों का वर्णन किया गया है—(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय। सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा को दृष्टि में रखकर तात्त्विक अर्थ चिन्तन करना आज्ञाविचय, राग-द्वेष प्रमाद आदि विकारों से उत्पन्न होनेवाले कष्टों का चिन्तन करना अपायविचय, कर्म के विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय और पुरुषाकार लोक का चिन्तन संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।

चार भावनाएँ

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य। यह चार भावनाएँ धर्मध्यान का उपस्कार करने के लिए रसायन के समान हैं। अतएव साधक

को चाहिए कि वह अपने अन्तर में अधिक से अधिक इन भावनाओं को जागृत और प्रदीप्त करें। इनका अभिप्राय यह है—

१ **मैत्री-भावना**—जगत् का कोई भी प्राणी पाप न करे, कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न बने, समस्त प्राणी दुःख से मुक्त हो जाएँ, इस प्रकार का चिन्तन पुनः-पुनः करना मैत्रीभावना है।

२ **प्रमोद-भावना**—जिनके समस्त दोष दूर हो गए हैं और जो यथार्थ वस्तुस्वरूप के द्रष्टा है, उन गुण गरिष्ठ महापुरुषों के गुणों के प्रति आदर होना, उनकी प्रशंसा करना, उनकी सेवा करना और उन्हें देखकर प्रसन्न होना प्रमोद भावना है।

३ **करुणा-भावना**—जो प्राणी दीन हैं, दुःखी हैं, भयभीत हैं और प्राणों की भिक्षा चाहते हैं, उनके दुःख को दूर करने की भावना होना करुणा भावना है।

४ **माध्यस्थ्य-भावना**—जो कुपथगामी हैं, सन्मार्ग से भ्रष्ट हैं, अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान और अगम्य-गमन से परहेज़ नहीं करते, क्रूर कर्म करके प्रसन्न होते हैं, जो दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा किया करते हैं और जिन्हें सन्मार्ग पर लाना शक्य नहीं हैं, जो उपदेश के भी पात्र नहीं हैं, उनके प्रति भी घृणा या द्वेष का भाव न रखते हुए उपेक्षाभाव धारण करना माध्यस्थ्य-भावना है।

एक बार प्रारम्भ किया हुआ ध्यान एक मुहूर्त्त से अधिक काल तक स्थिर नहीं रहता; किन्तु जो साधक इन चार भावनाओं से भावित होता है, वह भङ्ग हुए ध्यान की परम्परा को पुनः जोड़ लेने में समर्थ होता है।

ध्यान-विधि

विधिपूर्वक की गई क्रिया ही सफल होती है, अतएव जो साधक ध्यान करना चाहता है, उसे ध्यान की विधि पहले समझ लेनी चाहिए और निम्नलिखित बातों का ख्याल रखना चाहिए—

१ ध्यान के लिए आसन का कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है। जिस आसन का उपयोग करने में सुविधा हो और जिससे मन की अधिक से अधिक स्थिरता रह सकती हो, उसी आसन का प्रयोग करना उचित है।

२ ध्यान करते समय दोनों होठ मिले रहना चाहिए।

३ नेत्र खुले न रहें, न पूरी तरह बन्द रहे। उन्हें नासिका के अग्रभाग पर स्थापित कर लेना चाहिये।

४ दांत इस प्रकार रहें कि ऊपर दांतों के साथ नीचे के दांतों का स्पर्श न हो।

५ मुख प्रसन्न रहना चाहिये।

६ पूर्व और उत्तर दिशा समस्त प्रशस्त कार्यों के लिए योग्य मानी गई है। अतएव इन्हीं में से किसी की ओर मुख करके ध्यान करना चाहिये।

७ ध्यान के समय मेरूदंड सीधा और सुव्यवस्थित रहना चाहिए।

८ प्रमाद को दूर रखना चाहिये।

९ ध्यान की सिद्धी के लिए किसी पवित्र और एकान्त शान्त स्थान को चुनना चाहिए, जहां कोलाहल न हो और चित्तक्षोभ का कारण न हो।

१० ध्यान का अभ्यास करने वाले को आहार की सात्विकता और शुद्धता का ख्याल रखना रखना चाहिये। परिमित भोजन करना चाहिये।

११ ब्राह्ममुहूर्त्त ध्यान के लिए सबसे अनुकूल समय है।

---

[१२]

भक्ति साधना

भारतवर्ष की विभिन्न धर्म परम्पराओं में भक्ति को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ईसाई; मुस्लिम तथा अन्यान्य सम्प्रदायों में भी भक्ति की सुन्दर और मधुर व्याख्या की गई है।

भक्ति के अनेक साधन हैं, अनेक स्तर हैं और अनेक प्रकार के भेद हैं। शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्तिमार्ग को ही उत्कृष्ट मार्ग मान कर चलते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति का साधन अन्य साधनों की अपेक्षा सरल है। अतएव प्राथमिक भूमिका के साधकों के लिये यह सर्वोत्कृष्ट साधन है। यही कारण है कि अन्यान्य साधनों की अपेक्षा भक्ति साधन अपनाने वालों की ही संख्या विपुल है। उसी का प्रचार सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है।

वैदिक परम्परा में भक्ति की विवेचना और मीमांसा में प्रचुर ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। उन ग्रन्थों में भक्ति के इतने अधिक रूप-प्रकार-प्रदर्शित किये गए हैं कि उनका यहाँ सामान्य उल्लेख करना भी संभव नहीं है। सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें पर-मात्मा के साकार और निराकार स्वरूप की उपासना की जाती है, उन के भी नाना भेद-प्रभेद हैं। भागवत मे नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार मिलता है।

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनि वेदनम्।

(१) भगवान् के अलौकिक चरित्र को श्रवण करना (२) नाम कीर्त्तन करना (३) स्मरण करना (४) चरण कमलों का सेवन

करना (५) बाह्य सामग्री या मन द्वारा कल्पित सामग्री से भगवत्पूजन करना (६) वन्दन-प्रणमन करना (७) अपने को दास मानकर सेवा करना (८) मित्र भाव से सेवा करना (९) अहंकार को त्याग कर अपने सर्वस्व को तथा अपने आपको भगवान् के समर्पण कर देना।

वहां पाँच रसों के आधार पर पाँच प्रकार की भक्ति का वर्णन भी मिलता है। पाँच रस इस प्रकार हैं—शान्त रस, प्रीतिरस, प्रेयोरस (सख्यरस),वात्सल्यरस और मधुररस (शृंगार रस)। एक विद्वान् कहते हैं '(भक्ति) रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस में होती है। यह अलंकार-शास्त्र के शृङ्गाररस का अतीन्द्रिय दिव्य स्वरूप है। यह सभी के अनुभव की बात है कि लौकिक इन्द्रिय सुख की प्रगाढ़ता और विस्तार की परमावधि दाम्पत्य प्रेम में ही हुआ करती है। इसी प्रकार शृङ्गार अथवा मधुर रस विकास की चरमावस्था है। चरमावस्था इसे इसलिए कहा जाता है कि इसमें सब प्रकार की मर्यादा और सङ्कोच दूर हो जाते है और निरन्तर भगवान् की सेवा अबाध रूप से होती है और इस प्रकार इस सुख का समास्वादन अत्यन्त प्रगाढ़ होता है। *

इसका आशय यह है कि परमात्मा को पति मानकर और अपने आपको पत्नी समझ कर भक्त जो भक्ति करता है, वही सर्वोत्कृष्ट भक्ति हैं। इक प्रकार को 'कृष्ण भक्ति' राधा ने की थी और जो सर्वोत्तम भक्ति करना चाहता है उसे अपने को राधा–भगवान् की पत्नी–मानकर ही भक्ति करना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की विवेचनाएँ वास्तव में भक्ति की विकृतियाँ हैं और भूतकाल मे इन कल्पनाओं की बदौलत घोर से घोर अनर्थ, दुराचार और व्यभिचार तक हुए हैं। धर्म भी हो

---

* देखिये कल्याण का साधना-अङ्क ५१७–२२

और हृदय की उच्छृंखल वासना का पोषण भी हो जाय तो कौन ऐसा न करना चाहेगा ?

परमात्मा की भक्ति का उद्देश्य काम क्रोध आदि दुर्वासनाओं का उन्मूलन करके वीतरागभाव प्राप्त करना है, मगर दाम्पत्य भाव से की जानेवाली भक्ति इस उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकती। यही नहीं, वह प्रकारान्तर से कामुकता की वृद्धि में सहायता करती है।

भक्ति विषयक यह कल्पनाएँ साहित्यिक रूप में कितनी ही सात्त्विक क्यों न हों, व्यवहार में सात्त्विक नहीं रह सकती। इतिहास साक्षी है कि वे सात्त्विक रही भी नहीं हैं। इस प्रकार की विकृत भक्ति ने सहस्त्रों जनों को धर्म-विरोधी बनाया है।

जैन परम्परा में भी भक्तिमार्ग को समुचित स्थान उपलब्ध है। और इस विषय पर प्रचुर साहित्य का निर्माण भी हुआ है। मगर जैनधर्म का मूल और मुख्य उद्देश्य परिपूर्ण वीतरागभाव की प्राप्ति है, अतएव उसके अनुरूप ही वहां भक्ति का विधान किया गया है।

जिन्होंने राग-द्वेष, काम क्रोध, आदि समस्त आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त करके अव्याबाध अनन्त सुख के भागी बन चुके हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान् के के प्रति, चतुर्विध तीर्थ के नायक एवं आचार का पालन करने-कराने वाले धर्माचार्यों के प्रति, बहुश्रुती आगम के विशिष्ट वक्ताओं के प्रति और तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट प्रवचन के प्रति विशुद्ध भावपूर्ण अनुराग होना भक्ति है।‡

'विशुद्ध भावपूर्ण अनुराग' का तात्पर्य यह है कि वीतराग भगवान् के प्रति हृदय में ऐसी गहरी, व्यापक एवं जागृत प्रीति उत्पन्न होना

‡ अर्हदाचार्यबहुश्रुतेषु प्रवचनेषु वा भाव विशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्तिः। सर्वार्थसिद्धि, अ. ६-२४, तत्त्वार्थभाष्य अ. ६-२३

चाहिए कि वह अनन्यनिष्ठा बन जाए-जगत् के पदार्थों और सुखों पर अनुराग न रह जाए। कहावत प्रसिद्ध है एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। मानव का मन म्यान है और उसमें परमात्मप्रीति जब प्रगाढ़ रूप में जागृत होती है तो अन्य पदार्थों के अनुराग को कोई अवकाश नहीं रहता। भक्त उस स्थिति में अपने आपको भगवत्समर्पित अनुभव करने लगता है और शनैः शनैः उसकी अनुभूति तन्मयता का रूप धारण कर लेती है। उसमें भागवत् गुण प्रकट होने लगते हैं और अन्ततः भक्त ही भगवान् बन जाता है।

जैन परम्परा में अनादिसिद्ध एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। ईश्वरतत्व पर एक व्यक्ति का शाश्वत एकाधिपत्य (monopoly) नही है। प्रत्येक साधक औपाधिक भावों से मुक्ति प्राप्त कर और शुद्ध आत्मा स्वरूप को प्रकट करके ईश्वरत्व की विभूति का अधिकार बन सकता है। अतएव भक्ति का उद्देश्य अन्ततः स्वयं ईश्वर बनना है। ईश्वर का दास या सखा बन के रहने में भक्ति की चरम कृतार्थता नहीं है। इस प्रकार भक्ति ईश्वरत्व प्राप्ति का साधन है, साध्य नहीं। भक्ति को साध्य और साधन उभय रूप मानना भ्रान्ति है।

भक्ति के विषय में एक प्रश्न पर विचार करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। प्रश्न यह है कि ईश्वर में यदि रोष और तोष की वृत्तियां विद्यमान हों और उनसे प्रेरित होकर वह अनुग्रह निग्रह करता हो-आशीर्वाद और अभिशाप देता हो, तब तो उसकी भक्ति करने से कुछ लाभ हो सकता है। यदि उसमें वह वृत्तियां नहीं हैं, वह वीतराग है तो उसकी भक्ति निरर्थक क्यों नहीं है ?

बहुत लोगों के चित्त में यह प्रश्न उठता है किन्तु उसका मूल भक्ति विषयक शुद्ध ज्ञान का अभाव है। भक्ति का मूल्य समर्पण में है, ग्रहण

में नहीं। ऐहिक या पारलौकिक सुख साधन प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली भक्ति वस्तुत: भक्ति ही नहीं है। भक्ति का उद्देश्य विषयतृष्णा एवं कामना को नष्ट करके वीतरागता प्राप्त करना है, न कि कामनाओं की पूर्ति करना। जो लौकिक कामना की पूर्त्ति के लिए परमात्मा की भक्ति, स्तुति या प्रार्थना करता है, वह कृषक से भी अधिक भाग्यहीन है जो भूसे के उद्देश्य से कृषि करता है।

परमात्मा के गुणों में अनन्य अनुराग उत्पन्न होने पर विषय जनित सुख और सुख के साधनभूत पदार्थों की निर्गुनता अन्त:करण में बद्धमूल हो जाती है। अनासक्ति की वृद्धि होती है और पापाचार का परित्याग हो जाता है। ऐसी अवस्था में अपूर्व समभाव जागृत होता है और निराकुलता के निरुपम आनन्द की उपलब्धि होने लगती है। यह आनन्द इतना तीव्र और वास्तविक होता है कि विषयजन्य वैकारिक सुख इसकी तुलना में नगण्य होता है। शनैः शनैः भक्त आत्मशुद्धि के महामार्ग पर अग्रसर होता जाता है और परिपूर्ण आत्मानन्द का भाजन बनता है। यही भक्ति का सबसे बड़ा और महामूल्य पुरस्कार है। इस प्रकार वीतराग देव हमें जो देते नही, उसे हम वीतराग की भक्ति करके स्वयं प्राप्त कर लेते है।

ऐहिक लाभ की प्राप्ति के लिए परमात्मा में सरागित्व की कल्पना करना अनात्मज्ञता का परिचायक है। पिछले समय की जैन स्तुतियों या प्रार्थनाओं मे यदि ऐहिक याचना की प्रवृत्ति कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है तो उसे पड़ोसियों का ही प्रभाव समझना चाहिए।

भक्ति, स्तुति, स्तवन, प्रार्थना, भजन आदि एक ही अभिप्राय के सूचक हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में चतुर्विंशतिस्तव-चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति का फल सम्यग्दर्शन की विशुद्धि बतलाया गया है, इहलोक या

परलोक सम्बन्धी वैभव नहीं।* अतएव सच्चा मुमुक्षु पुरुष वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही वीतराग की स्तुति या भक्ति करता है। यही भक्ति का महान् फल है। लौकिक वैभव उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होता, फिर भी शुभभावना-जनित पुण्य के परिपाक से वह अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

---

* चउवीसत्थएणं भंते; जीवे किं जणयइ ?
चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

—उत्त० अध्ययन २६

[१३]

ॐ का विराट रूप

'ॐ' यह अक्षर ही सब कुछ है। जो कुछ भी भूत है, वर्तमान है और भविष्यत् है, सब उसी की व्याख्या है, इस कारण सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है, वह भी ओंकार ही है।†

उपनिषद्कार ओंकार को ब्रह्म का वाचक शब्द स्वीकार करते हैं और वाचक तथा वाच्य को एकान्त अभेद मानकर उसे सर्वात्मक प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि इस चराचर विश्व के त्रैकालिक पदार्थ और त्रिकालातीत जो तत्त्व हैं वह सब ओमात्मक ही है। उनका यह प्रतिपादन अद्वैतवाद की पृष्टभूमि पर अवलम्बित है।

किन्तु किसी भी वस्तु के पारमार्थिक एवं परिपूर्ण स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए कोई भी ऐकान्तिक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है। जब तक विविध दृष्टिकोणों से वस्तुस्वरूप का पर्यालोचन न किया जा, सत्य की उपलब्धि नही होती। किसी भवन का एक दिशा से लिया गया चित्र परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। उस चित्र में भवन का अधिकांश भाग अदृश्य ही रहेगा।

वस्तुस्वरूप पर तटस्थ भाव से विचार किया जाय तो एक ही वस्तु में आपाततः परस्पर विरोधी जैसे प्रतीत होने वाले अनेक स्वभावों की

---

†'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपादानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यधान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।'—माण्डूक्योपनिषद

सिद्ध
अरिहन्त
जैन महाव्रत – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
वैदिक यम – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकिंचन
बौद्ध पंचशील
ऊर्ध्व लोक
दर्शन, ज्ञान, तप, चारित्र, सर्वसाधु, उपाध्याय, आचार्य
राजनैतिक पंचशील
मध्यलोक
1. सार्वभौमिकता का समादर
2. अनाक्रमण
3. अहस्तक्षेप
4. पारस्परिक सहयोग और समानता
5. शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व
अधोलोक
मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग

प्रतीति होती है। जगत् में भी पदार्थ हैं, वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी नहीं और अभिन्न भी नहीं है। भेद की प्रतीति अनुभवसिद्ध है। जल से तृषा शान्त हो सकती है, अग्नि से नहीं। अग्नि से भोजन का परिपाक हो सकता हो, जल से नहीं। मनुष्य पशु पक्षी आदि में चेतना की जो विशेषता दृष्टिगोचर होती है, वह जड़ पदार्थों में नहीं है। इस प्रकार भाँति-भाँति से प्रतीत होने वाले भेद का अपलाप करना एक प्रकार से अपने अस्तित्व का अपलाप करना है। किन्तु इस विभिन्नता मे भी क्या कुछ सामंजस्य नहीं है? एकरूपता नहीं है? कम से कम सत्ता नामक धर्म तो ऐसा है ही, जिसके आधार पर हम विश्ववर्त्ती समस्त पदार्थों में रही हुई एकरूपता को सरलता से समझ सकते हैं।

तो जगत् के समस्त पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं। उनका प्रतिपादन प्रयोजन के अनुसार कभी भेद दृष्टि की तो कभी अभेददृष्टि की प्रधानता के अनुसार होता है। माण्डूक्योपनिषद् में जो कथन किया गया है, वह अभेद की प्रधानता से ही सङ्गत होता है। इस दृष्टि के अनुसार चराचर विश्व ओंकार रूप ही है। ओंकार ब्रह्म है और ब्रह्म सत्ता का वाचक है। अतः सत्ता रूप से जगत् एक है। सत्ता से जो विलक्षण है, वह असत् के अतिरिक्त क्या हो सकता है?

मगर यहाँ ओंकार के विराट् रूप की कल्पना अन्य प्रकार से की गई है। चित्र देखने से प्रतीत होगा कि उसके विभिन्न विभागों में विविध भावात्मक द्रव्य-भाव रूप अङ्गों का संविधान भी एक नूतन कल्पना द्वारा संजोया गया है।

ओंकार के चित्रण में तीनों लोकों की स्थिति का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। सर्वप्रथम ऊँचाई पर ऊर्ध्वलोक में देवपद और मोक्षपद की प्राप्ति के साधन विभिन्न धर्मों के दृष्टिकोणों से बतलाए गए हैं। देवलोकों का भी उल्लेख किया गया हैं। मध्य भाग में भारत के प्रधान-

मन्त्री पं० नेहरु द्वारा विश्व-शांति के स्वप्न को साकार करने के उद्देश्य से प्रचारित पंचशीलों को स्थान दिया गया है। अधोभाग में, अधोलोक में स्थित नरक भूमियों का और उनमें जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है।

ॐ के विकसित मार्ग में अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती भाग में उन नौ पदों को अङ्कित किया गया है, जिनकी विधिवत् साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। शीर्षस्त 'सिद्धाणं' इस पद से यह भाव व्यक्त किया गया है।

इस कल्पना का किंचित् विवरण आगे दिया जाएगा।

ऊर्ध्व भाग

ओंकार महामन्त्र के स्मरण का मुख्य लक्ष्य आत्म-शुद्धि प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त करना है। किन्तु ओंकार का स्मरण और जप तब ही शुद्ध होता है जब अन्तःकरण पाप-वासनाओं से रहित हो। पापमय वासनाओं को, जिनका मूल अत्यन्त सुदृढ़ और गहरा है, उन्मूलन करना हँसी-खेल नहीं है। पापाचरण न करने का संकल्प कर लेने पर भी और पापाचरण से निवृत्त हो जाने पर भी सुषुप्त रूप में वासनाएँ विद्यमान रह सकती हैं। उनके उन्मूलन के लिए पाप परित्याग के साथ-साथ शुभ और शुद्ध अध्यवसायों में रमण करने की आवश्यकता होती है। निरन्तर सतर्क और सावधान रहना पड़ता है, चित्त की पूरी तरह चौकसी करनी पड़ती है।

जिन पाप-व्यापारों से विरत हुए बिना ओंकार का विशुद्ध स्मरण चिन्तन और मनन सम्भव नही है, उनमें पांच प्रमुख हैं—हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्म और परिग्रह। इन पांच व्यापारों से मलिनता उत्पन्न होती है, राग और द्वेष को परिणति प्रबल होती है और आत्मा आत्मरमण से विमुख होकर बहिर्मुख बनता है। इन पापों का त्याग करने से ही पाँच महाव्रतों की निष्पत्ति होती है। पाँच महाव्रतों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

अहिंसा महाव्रत

प्रमादवश होकर मन, वचन या काय से किसी भी स्थूल या सूक्ष्म प्राणी को दुःख न पहुँचाना, उसका वध न करना, दूसरों के द्वारा वध न करवाना और वध करनेवाले का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अनुमोदन न करना अहिंसा महाव्रत है।*

अहिंसा परम धर्म है, इस विषय में समस्त धर्मशास्त्र एकमत हैं। जिन्होंने हिंसापरक कर्मकाण्ड का विधान किया है, वे भी हिंसा को धर्म कहने का साहस न कर सके। उन्होंने इस हिंसा को अहिंसा कहकर ही जनता के गले उतारने का प्रयत्न किया है।‡ इससे सहज ही अहिंसा के महत्त्व और प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में अहिंसा के प्रति जनमानस में सदैव गहरी आस्था रही है, आज भी है और भविष्यत् में भी रहेगी। अहिंसा स्वानुभवसिद्ध धर्म है। थोड़ा-सा कष्ट भी हमें पहुँचे, यह बात हमें रुचिकर नहीं है तो दूसरों को किस प्रकार रुचिकर हो सकती है ? जिस प्रकार हमें जीवित रहना प्रिय है, वध अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणी भी जीवित रहना चाहते हैं और वध उन्हें प्रिय नहीं है। जो इस सीधी-सादी बात को समझ सकता है, वह अहिंसा को भी समझ सकता है।

साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होने वाले साधक के लिए अहिंसाधर्म का आराधन करना सर्वप्रथम आवश्यक है। अहिंसा की भावना जागृत हुए बिना साधना संभव नहीं है। साधना का अभिप्राय ही अहिंसा है। यम, नियम, जप, तप आदि समस्त साधन अहिंसा की आराधना के लिये हैं। सत्य आदि व्रत अहिंसा व्रत की ही शाखायें हैं। इसी कारण हिंसाकारी सत्य भी वस्तुतः असत्य की कोटि में गिना गया है।

---

* न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
त्रसां स्थावराणाञ्च, तदहिंसाव्रतं मतम् ।। —योगशास्त्र, १-२०

‡ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ।

हिंसा का अर्थ बहुत व्यापक है। जैसे दूसरे प्राणियों को व्यथा पहुँचाना परहिंसा है, उसी अन्तःकरण में राग, द्वेष, मद, मोह आदि विकारों का उत्पन्न होना स्व-हिंसा है। दूसरे को कष्ट देने का संकल्प या प्रयत्न होने पर पर-हिंसा कदाचित् हो या न भी हो, किन्तु स्व-हिंसा या आत्मवध तो हो ही जाता है। चित्त से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक दुर्भाव से आत्महिंसा होती है, क्योंकि वह आत्मिक शान्ति का विघातक होता है। अतएव अहिंसा महाव्रत का आराधक साधक अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाले दुर्भावों का निरोध करके स्वहिंसा और अन्य प्राणी को कष्ट न पहुँचा कर पर हिंसा से विरत होता है। यही अहिंसा-ब्रह्म की सच्ची साधना है। ‡

सत्य महाव्रत

प्रिय, पथ्य और तथ्य वचन का ही प्रयोग करना और असत्य का सर्वथा त्याग करना सत्य महाव्रत है।

सत्य महाव्रत के इस लक्षण में 'तथ्य' के साथ प्रयुक्त 'प्रिय' और 'पथ्य' विशेषणों पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। जो वचन तथ्य अर्थात् यथार्थ तो हैं किन्तु अप्रिय है, अथवा अहितकर—अनर्थकर है, वह सत्य में परिगणित नहीं है।

सत्य अहिंसा का पोषक व्रत है। अतएव जिस वाणी से हिंसा को पोषण या प्रोत्साहन मिलता है, जिससे दूसरे के चित्त को व्यथा पहुँचती है अथवा जिससे अपनी आत्मा में मलीनता उत्पन्न होती है, ऐसी तथ्य वाणी भी असत्य ही हैं। अतएव वास्तव में सत्यवादी पुरुष वही है जो तथ्य के साथ हितकर और प्रियंकर वचनों का ही प्रयोग करता है।

---

‡ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

—आचार्य समन्तभद्र

सत्य का सेवक ही भगवान् का सेवक है, क्योंकि सत्य साक्षात् भगवान् का रूप है।* वह क्रोध, लोभ, भय और उपहास से प्रेरित होकर भी कभी असत्य का प्रयोग नहीं करता। सत्यवादी पुरुष पृथ्वी का आभूषण है और उसकी चरणरज से पृथ्वी पावन बनती है।

अस्तेयमहाव्रत

अस्तेय का अर्थ है अदत्तादान या चोरी का सर्वथा त्याग करना। साधक जन किसी भी सजीव या निर्जीव, अल्पमूल्य या महामूल्य, सूक्ष्म या स्थूल वस्तु को, मन वचन और काय से, उसके स्वामी के द्वारा दिये बिना ग्रहण नहीं करते। उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त स्वल्प होती है। वे उन आवश्यकताओं को इस विधि से पूर्ण करते हैं कि उन्हें अदत्त को ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जिस वस्तु का जो न्यायत: स्वामी है, उससे याचना करके ही वे आवश्यक वस्तु को ग्रहण करते हैं।

अदत्तादान एक भीषण पाप है, क्योंकि उससे वस्तु के स्वामी को मार्मिक आघात पहुँचता है। अतएव धार्मिक पुरुष किसी भी वस्तु को दिये बिना ग्रहण न करे। किसी की कोई वस्तु राह चलते गिर गई हो, कोई कहीं रखकर भूल गया हो, गुम हो गई हो, और कितनी भी अनिवार्य आवश्यकता क्यों न आ पड़ी हो, तथापि उसे ग्रहण करना उचित नहीं है।

इस प्रकार त्रिकरण त्रियोग से अदत्तादान का त्याग करना अस्तेय महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

भारतवर्ष के सभी ऋषि-मुनियों ने मुक्त कंठ से ब्रह्मचर्य का महिमा-

---

*तं सच्चं खु भगवं।—प्रश्नव्याकरणसूत्र, सं. २।

गान करके अपनी वाणी को पावन किया है। तप सभी उत्तम हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम है।* ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीरबल, मनोबल और आत्मबल की वृद्धि होती है। ब्रह्मचारी के मुखमण्डल पर एक अनूठी दिव्य आभा चमकती है। जो दुर्जय कामविकार को जीत लेता है, उसके लिए अन्यान्य विकारों को जीत लेने में कोई कठिनाई नहीं होती।

ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-निवृत्ति तो है ही, किन्तु उसका व्यापक अर्थ है–समस्त इन्द्रियों का और मन का निग्रह करके ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमण करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की सिद्धि के लिए पूर्ण रूप से काम भोग से विरत होना आवश्यक है और उसके लिए कतिपय नियमों का पालन करना अनिवार्य है। वे नियम इस प्रकार हैं—

१. ब्रह्मचारी पुरुष ऐसे स्थान में शयन या अवस्थान न करे जहां स्त्री, नपुंसक (हीजड़ा) या पशु हों।
२. स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी चर्चा-वार्त्ता न करें जिससे कामवासना के जागृत होने की संभावना हो–विकार को प्रोत्साहन मिलता हो।
३. स्त्रियों के साथ सम्पर्क न रक्खें।
४. रमणियों के मनोरम अंगोपांगों का अवलोकन न करें। सहसा दृष्टिपात हो जाय तो उसी प्रकार हटा लें जैसे सूर्य की ओर से हटा ली जाती है।
५. दीवार, यवनिका आदि की ओट से स्त्रियों का कूजन, गायन, हास्य आदि सुनने का प्रयत्न न करें। जहां इस प्रकार का व्याघात हो, वहाँ न ठहरे।

---

* तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।–सूयगडांगसूत्र

६ पूर्वकृत कामक्रीड़ा का स्मरण न किया जाय।

७ जिह्वा-इन्द्रिय पर अंकुश रक्खे। विकारवर्द्धक आहार-पान का सेवन न करे।

८ अतिभोजन से बचे।

९ साज-शृङ्गार न करे।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पुरुषों को उल्लिखित बातों पर जैसे ध्यान रखना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी महिला को भी। उसे पुरुषों के संसर्ग से उसी तरह बचना चाहिए जिस तरह पुरुष को स्त्री-संपर्क से बचने का विधान किया गया है।

उपर्युक्त नियमों पर दृढ़ रहते हुए तीन करण और तीन योग से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है।

अपरिग्रह महाव्रत

समस्त पदार्थों में मूर्छा का अभाव होना अपरिग्रह महाव्रत है। कोई पदार्थ प्राप्त नहीं है, किंतु तद्विषयक आसक्ति यदि अन्त:करण में है तो वह भी परिग्रह में परिगणित है। अतः सच्चा अपरिग्रही वही है जो जगत् के पदार्थों के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित आसक्ति के प्रबल-पाश से अपने को मुक्त रखता है।

समस्त दुःखों का मूल स्त्रोत कामनाएँ हैं। भगवान् महावीर ने सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने का एक अमोघ उपाय बतलाया है—

कामे कमाही,
कमियं खु दुक्खं।
दशवै० अ० २

कामनाओं से ऊँचे उठ जाओ। फिर समझ लो कि दुःख से ऊपर उठ गए।

जब तक अन्तःकरण कामना से कलुषित है, दुःख से मुक्ति पाना सम्भव नही है। कामनाओं की पूर्ति में सुख की गवेषणा करने वाले मृग-मरीचिका में शीतल जल की गवेषणा करते हैं। उनका सुख-प्राप्ति का स्वप्न अनन्तकाल में भी साकार होने वाला नहीं है, क्योंकि कामना तो वह क्षितिज है। जिसका कही ओर-छोर नहीं है। एक कामना की पूर्ति ही जहाँ सैकड़ों नूतन कामनाओं को जन्म देती है, वहाँ सुख की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

देवलोक

पूर्वोक्त पाँच महाव्रतों का मनसा वाचा कर्मणा आराधना करने वाले सभी साधक निर्वाण नही प्राप्त कर पाते। चिरपुरातन और समय समय पर होने वाले नूतन कर्म किसी किसी आत्मा में इतनी गहरी जड़ जमाये होते हैं कि उनका उन्मूलन करने के लिये जन्म जन्मान्तर में साधना करनी पड़ती है, संस्कारो का संचय करना पड़ता है। इस चिरसाधना के अन्तराल मे ऐसा भी समय आता है जब साधक को शुभ परिणतिजनित पुण्य के प्रभाव से अभ्युदय की प्राप्ति होती है अर्थात् उसे दिव्य लोक (स्वर्ग) में जन्म धारण करता है। दिव्य लोक सर्वोत्कृष्ट सांसारिक सुख का स्थल है, तथापि मुमुक्षु के लिये वह स्पृहणीय नहीं होता, क्योंकि मानवीय सुख के सदृश ही वह भी स्थायी, परिपूर्ण एवं आत्यन्तिक आतक प्राप्त करने में बाधक है। सच्चे मुमुक्षु के लिए वह मंजिल नहीं, मंजिल तक पहुंचने के लिए एक पड़ाव मात्र है।

देवलोक में सर्वोच्च स्थान पर पाँच अनुत्तर विमान है, जिनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध हैं, इन विमानों में जन्म लेने वाले एक-दो बार जन्म धारण करके ही सिद्धि प्राप्त कर लेते है।

उनसे नीचे ग्रैवेयक विमान हैं। पुरुषाकृति लोक के ग्रीवास्थान में

होने के कारण उन्हें 'ग्रैवेयक' संज्ञा प्रदान की गई है, इनकी संख्या नौ है।

ग्रैवेयक विमानों के नीचे बारह देवलोक और हैं जो सौधर्य, ऐशान आदि के नाम से विख्यात हैं।

देवलोको के विषय मे एक बात उल्लेखनीय है। वह यह कि नीचे बारह देवलोकों तक मर्त्यलोक के समान शास्य-शासकभाव है। वहां देवगण साधारण प्रजा के समान हैं, इन्द्र राजा के स्थान पर। इन्द्र के अधीन सेनायें होती हैं, लोकपाल होता है। मनुष्यों के समान देवों में भी कभी कभी पारस्परिक संघर्ष हो जाता है। अनुराग, विराग जैसी साधारण मनोवृत्तियाँ वहाँ भी अपना काम करती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वर्ग या देवलोक कोई स्पृहणीय वस्तु नही है। देवगण अंशत: भी संयम अंगीकार नही कर सकते। साँसारिक सुख एवं विलास के मादक वातावरण में उनकी आध्यात्मिक चेतना जागृत ही नहीं हो पाती।

बारह देवलोकों में पाँचवां ब्रह्मदेवलोक है। वहां नौ लौकान्तिक देव निवास करते हैं। ये देवर्षि कहलाते हैं और उनका भवभ्रमण लगभग निकट होता है।

बौद्ध पंचशील

द्वादश देवलोकों के नीचे बौद्धमत-सम्मत पांच शीलों को स्थान दिया गया है। शील का अर्थ आचार एवं अनुशासन है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—अहिंसा
२—अस्तेय
३—ब्रह्मचर्य
४—सत्य
५—मद्यपान त्याग*

---

* पाणी न हन्तव्वो, अदिन्नं नादातव्वं, कामेसु मुच्छा न चरितव्वा, मुसा न भासितव्वा, मज्जं न पातव्वं। —बौद्धकालीन प्रस्तर लेख।

यह पंचशील जैनों के महाव्रतों जैसे ही हैं और उनकी व्याख्या में ही इनकी व्याख्या आ जाती है। अन्तर केवल पाँचवें शील में है। महाव्रतों में पांचवां अपरिग्रह है जब कि शीलों में मद्यपान त्याग जैन परम्परा के अनुसार मद्यत्याग महाव्रतों की पूर्वभूमिका में ही कर दिया जाता है।

वैदिक पंचयम

वैदिक संस्कृति ने भी जीवनोत्थान की मंगलमय प्रेरणा प्रदान करने हेतु पंच महाव्रत और पंचशील की भांति पंच यमों का उल्लेख किया है। यम का अर्थ संयम, सदाचार और अनुशासन है। वे पंचयम इस प्रकार हैं—१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह-अकिंचन

पंच यमों को भी पंचशील की तरह हृदय स्थल पर अंकित किया गया है।

मध्य भाग

नव पद

ओंकार के मध्य भाग में अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती अंश में जैन-दर्शन सम्मत नव पदों की स्थापना की गई है। यह नव पद श्रद्धेय हैं, आराध्य हैं और ॐ पद के ही विभिन्न अङ्ग हैं। इनकी श्रद्धा-आराधना का मुख्य लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना ही है। अतएव ॐ के विकसित भाग पर इन आदर्श नव पदों को स्थान दिया जाना उपयुक्त और युक्तिसङ्गत ही है। 'ओं' के सर्वोच्च भाग पर 'सिद्धाणं' पद का अङ्कन किया गया है। वह भी ध्येय के अनुरूप और सिद्धों की सर्वोत्कृष्टता के अनुकूल है। वस्तुतः चरम आध्यात्मिक सिद्धि ही साधक के लिए अभीप्सित होती है और वह सिद्धि जो महान् आत्मा प्राप्त कर चुके हैं, वे उसके परम आराध्य हैं। इससे 'ॐ' पद को 'सिद्ध' पद के साथ एकरूपता भी ध्वनित होती है।

अहिंसा—सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः —योगसूत्र

उल्लिखित नव पदों का सामान्य परिचय इस प्रकार है:—

णमो दंसणस्स

१ णमो दंसणस्स:—दर्शन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है, किंतु यहाँ वह 'श्रद्धा' अर्थ में समझना चाहिए।

साधना चाहे लौकिक हो या लोकोत्तर, सर्वत्र श्रद्धा की अनिवार्य आवश्यकता है। श्रद्धा के बिना साधारण लौकिक कार्यों में भी पूरी सफलता नहीं मिल पाती, तो आध्यात्मिक जगत् के परम तत्त्व की उपलब्धि तो हो ही कैसे सकती है ? एक बार महात्मा गांधी ने अहिंसा की चर्चा करते हुए कहा था—'मैं अहिंसा की शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता हूं। जैसे हिंसा का फल प्रत्यक्ष है–अंगुली पर छुरी चलते ही अंगुली कट जाती है, वैसा ही प्रत्यक्ष फल अहिंसा का भी दिखना चाहिए। मुझे इसमें श्रद्धा है, पर इसके लिए अटूट धैर्य चाहिए। घास के एक तिनके पर जलबिंदु लेकर समुद्र खाली करने में जितनी श्रद्धा चाहिए उससे भी हजार गुणी अधिक श्रद्धा अहिंसा का साक्षात्कार करने में चाहिए।*

गांधीजी ने अहिंसा की शक्ति के साक्षात्कार के लिए जिस अचल एवं अपार श्रद्धा की बात कही है, वही प्रत्येक आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करने में लागू होती है।

किसी भी विषय में मनोयोग का समग्र रूप में समर्पित हो जाना, दोलायमान प्रतीति का हट जाना और अचल संकल्प की दृढ़ता उत्पन्न हो जाना श्रद्धा है। इस प्रकार की श्रद्धा अन्तर में जब प्रादुर्भाव हो जाती है तो समझना चाहिये कि साधक ने कम से कम आधी मंजिल पार कर ली है। अधूरे मन से किसी भी महान् कार्य की सिद्धि नहीं होती। साधक एकदम आगे बढ़ना चाहता है परन्तु उसकी मानसिक

---

* गांधी–उज्ज्वल वार्ता पृ० ३

दुर्बलता उसे चार क़दम पीछे घसीट ले जाती है। इसके विपरीत, जब कि ध्येय के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा हृदय में जागृत होती है तो बिना विशेष कठिनाई के साधक अनायास ही अग्रसर होता चला जाता है। 'यो यच्छ्रद्दः स एव सः'–श्रद्धा मनुष्य को तद्रूप बना देती है।

क्या जैन धर्म मे और क्या इतर धर्मों में, श्रद्धा को समान रूप से महत्त्व किया गया है। सम्यक् श्रद्धा के अभाव में गंभीर से गंभीर ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता। वह मिथ्याज्ञान ही रहता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, सम्यक्श्रद्धा के बिना असंभव है।

सम्यग् दर्शन मुक्ति-महल का प्रथम सोपान है। जिस आत्मा में एक बार, अल्प काल के लिए भी, सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, उसका भवभ्रमण सीमित हो जाता है और उसे उस अवधि के पश्चात् निश्चय ही निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसी से सम्यग्दर्शन के अपार प्रभाव और महत्त्व की कल्पना की जा सकती है।

आध्यात्मिक साधना के पथ में श्रद्धा ही साधक का सबसे बड़ा सम्बल है। श्रद्धा से उस साहस और धैर्य की प्राप्ति होती है जिससे असाध्य प्रतीत होने वाला कार्य भी सुसाध्य बन जाता है। अतएव जिस के अन्तः करण मे तत्त्व के प्रति हिमालय के समान अविचल श्रद्धा है, वह साधक भाग्यशाली है और उसका भाग्य ईर्ष्या करने योग्य है।

जो लोग श्रद्धा की अवगणना करते हैं, उसे जड़ता का प्रतीक मानते हैं और तर्क को ही तत्त्वनिर्णय की एक मात्र अभ्रान्त कसौटी समझते है, वे दयनीय हैं। उन्होंने गहराई में उतरने का प्रयास ही नहीं किया है। स्थूल जगत् से ओझल जो रहस्यमय सूक्ष्म किन्तु विराट् तत्त्व हैं, उसकी झांकी श्रद्धा के बिना कदापि देखी नहीं जा सकती। इसी हेतु नव पदों में दर्शन को प्रथम स्थान देकर नमस्कार किया गया है।*

---

* विशेष विवेचन देखें लेखक का 'साधना का राजमार्ग–में सम्यग-दर्शन एक अनुचिन्तन विभाग

णमो नाणस्स:

णमो नाणस्स:—हमारे शरीर में नेत्रों का जो स्थान है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आत्मा में ज्ञान का है। आत्मिक शक्तियों मे ज्ञान सर्वप्रधान शक्ति है। बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि ज्ञान आत्मा को 'आत्मा' है। ज्ञान के कारण ही आत्मा का जड़ पदार्थों से वैशिष्ट्य है। नेत्रों के अभाव में भी मनुष्य कानों से सुन सकता है, नाक से सूंघ सकता है, जीभ से रसास्वादन और स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्शानुभूति कर सकता है, किन्तु ज्ञान न होता तो आत्मा में पूर्ण जड़ता का ही साम्राज्य होता और उसका पृथक अस्तित्व न होता।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति स्वरूपतः विद्यमान है। देश और काल सम्बन्धी उसकी कोई परिधि नही है। तीनों कालों और तीनों लोकों को हस्तामलकवत् जानना उसका स्वभाव है। किंतु जैसे मेघमाला से आवृत्त चन्द्रमा की नैसर्गिक ज्योत्स्ना मन्द और मन्दतर हो जाती है, उसी प्रकार कर्मों से आवृत्त आत्मा की ज्ञान शक्ति भी मन्द और मन्दतर हो रही है। जैसे मेघपटल के अपगमन के अनुपात में चन्द्रमा का प्रकाश वृद्धिगत होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों कर्मावरण क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मिक ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जैसे सम्पूर्ण मेघ हट जाने पर चन्द्रमा अपने स्वाभाविक रूप मे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार आवरणों का पूर्ण रूपेण क्षय हो जाने पर आत्मा की मौलिक ज्ञानशक्ति परिपूर्ण रूप से आविर्भूत हो उठती है।

भारतवर्ष के कतिपय दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार मुक्त दशा में आत्मा ज्ञानहीन हो जाती है, किंतु वास्तव में ऐसा होना असम्भव है। ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध है, ज्ञान के न रहने पर आत्मा के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुक्तात्मा जब समस्त उपाधियों और विकारों से रहित हो जाता है तो उसका प्रधान और अभिन्न गुण भी निरुपाधिक और निर्विकार रूप में जागृत हो उठता है।

साधना के क्षेत्र में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह साधन होने से साथ साध्य भी है। सम्यक् श्रद्धा होने पर ज्ञान में सम्यक्त्व आता है और सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में की जाने वाली साधना ही फलवती होती है।* इसी कारण यहां ज्ञान को नमस्कार किया गया है।

णमो तवस्स

३ मो तवस्स–तीसरा पद 'तप' है। तपश्चरण के विषय में अगणित भ्रान्तियां फैली हुई हैं। उन भ्रातियों की परम्परा नूतन नहीं, अति पुरातन है। भगवान् महावीर के समय में भी बहुत सी भ्रान्तियाँ थीं। भगवान् महावीर ने उनके निरसन के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ किया और साधकों को एक अभिनव दृष्टि प्रदान की। भगवान् के समय में नाना विधियों का अवलम्बन करने वाले तापस सम्प्रदाय विद्यमान थे। वे देहदमन को ही तपस्या का स्वरूप समझते थे। पंचाग्नि तपना, कंटकशय्या पर शयन करना, आकण्ठ जलमग्न होकर शीत को सहन करना आदि देहदमन रूप तप के प्रकार थे। महावीर स्वामी ने इस प्रकार की एकान्त बहिर्मुखी तपस्या की बालतप–अज्ञानपूर्ण तपश्चरण कह कर भर्त्सना की और बतलाया कि इससे अभ्युदय के अतिरिक्त निःश्रेयस् नहीं प्राप्त किया जा सकता।

भगवान् महावीर ने तपश्चरण विषयक प्रचलित दृष्टिकोण में आमूल संशोधन किया। उसके जड़ कलेवर में प्राणों की प्रतिष्ठा की। उसे व्यापक स्वरूप प्रदान किया।

वास्तविक तप इच्छाओं का निरोध करना है। तप के दो रूप हैं–बाह्य और अन्तरंग। अनशन आदि का बाह्य तप और स्वाध्याय, ध्यान, विनय, वैयावृत्य–सेवा, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि का अन्तरंग तप में समावेश होता है।

---

* विशेष विवेचन 'साधना का राजमार्ग' में–'सम्यग्ज्ञान एक परिशीलना' देखें।

आत्मा को निरावरण एवं निर्विकार बनाने के लिये मुमुक्षु को दो प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। प्रथम अभिनव कर्मों के आस्रवण का निरोध और दूसरे पूर्वसंचित कर्मों का प्रक्षय, इनमें से अभिनव कर्मास्रव के निरोध के तो गुप्ति, समिति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जप, चारित्र आदि अनेक साधन हैं किन्तु पूर्वसंचित कर्मों के क्षय का अद्वितीय उपाय तपश्चरण ही है।* तप की तीव्र अग्नि में कोटि २ भवों में संचित कर्मों को भस्म किया जा सकता है।‡ इसके द्वारा अभिनव कर्मों का निरोध भी होता है। यह अद्भुत दोहरा सामर्थ्य तप के सिवाय अन्य किसी साधन में नहीं है।

समीचीन श्रद्धा और ज्ञान की विद्यमानताओं में ही तप सम्यक् हो सकता है और तभी वह मुक्ति का निमित्त बनता है। इस तथ्य को सूचित करने के लिए दर्शन और ज्ञान के पश्चात् तपश्चरण को स्थान दिया गया है।

णमो चरित्तस्स

४ **णमो चरित्तस्सः**—चारित्र की परिधि बहुत विस्तृत है। आत्मशोधन के लक्ष्य से जो भी शुभ या शुद्ध अनुष्ठान किया जाता है, सब चारित्र के अन्तर्गत है। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने चारित्र की व्यापक परिभाषा बतलाते हुए यही कहा है—

असुहाओ विणिवत्ती, सुहे पवित्ती अ जाण चरित्तं।

अशुभ व्यापारों से सर्वथा निवृत्त होकर कुशल अनुष्ठान में परायण होना चारित्र कहलाता है।

---

* आस्रव निरोधः संवरः। स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षापरीषहजय-चारित्रैः। तपसा निर्जरा च–तत्त्वार्थसूत्र, ९, १-३

‡ भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ–उत्तराध्ययन सूत्र, ३०, ६

मगर यह परिभाषा पर्याप्त व्यापक होने पर भी चारित्र के समग्र चित्र को उपस्थित नहीं करती। यह व्याख्या मुख्य रूप से व्यावहारिक चारित्र पर लागू होती है। निश्चय चारित्र की प्राप्ति समस्त प्रवृत्तियों का परित्याग कर देने पर स्वरूपरमण की दशा में ही होती है।

चारित्र के बिना मुक्ति-साधना की कल्पना तक नहीं की जा सकती। यही कारण है कि ब्यौरे में कहीं कम और कहीं अधिक भेद होने पर भी जगत् के समस्त धर्मशास्त्रों ने चारित्र की महिमा को एक स्वर से स्वीकार किया है। वास्तव मे दर्शन और ज्ञान का सुफल चारित्र ही है। जब साधक हेय और उपादेय का विवेक प्राप्त कर लेता है तब हेय के उपादान में सहज ही उसकी प्रवृत्ति होती है। जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर तदनुरूप प्रवृत्ति न हो, जो ज्ञान आचार में परिणत न हो, वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है।

साधक गृहस्थ भी होते है और गृहत्यागी—अनगार भी होते हैं। स्पष्ट है कि दोनों की परिस्थितियाँ इतनी विभिन्न हैं कि उनका क्रिया-कलाप समान नहीं हो सकता। इसी कारण चारित्र की दो श्रेणियां की गई हैं—देश चारित्र और सकलचारित्र, जिन्हें क्रमश: देशविरती और सर्वविरति भी कहते हैं।

सर्वविरति में पाँच महाव्रत और उनके पोषक दूसरे अनेकविध आचार सम्मिलित हैं। महाव्रतों का संक्षिप्त परिचय पहले आ चुका है। उन्हीं का आंशिक रूप में आचरण करना देशविरति है। देशविरति में पांच पूर्वोक्त अहिंसा आदि अणुव्रतों के अतिरिक्त सात शीलों का भी समावेश है।

जैन श्रुत का बहुत बड़ा भाग आचार निरूपण ने रोका है। वहां विस्तार के साथ बारीक से बारीक बातों का निरूपण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। विस्तारभय से यहाँ उसका उल्लेख मात्र किया जा रहा है :

सम्यक् चारित्र गीता की भाषा में 'कर्मयोग' कहा जा सकता है। कर्म के लिये गीता की एक आवश्यक शर्त यह है कि वह निष्काम होना चाहिये। जैन शास्त्र भी इस शर्त का अनेकान्त दृष्टि से समर्थन करता है। वहाँ कहा गया है–'ऐहिक लाभ के उद्देश्य से आचार का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये, पारलौकिक लाभ के उद्देश्य से आचार का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। कीर्ति वर्ण शब्द और प्रशंसा के लिये आचार का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये, केवल विशुद्ध आत्मदशा प्राप्त करने के उद्देश्य से ही आचार का अनुष्ठान करना चाहिये।*

कहा जा सकता है कि यदि विशुद्ध आत्मदशा की प्राप्ति के उद्देश्य से साधक आचार का अनुष्ठान करता है तो उसमें निष्कर्मता कहां रही? किन्तु गीता की निष्कर्मता का अभिप्राय भी लोकैषणा से ही समझना चाहिए। साधना की प्राथमिक अवस्था में आत्मशुद्धि की पावन और प्रेरक अभिलाषा विद्यमान रहती ही है। उसके अभाव में कोई साधनाक्षेत्र मे अवत्तीर्ण नहीं हो सकता। प्राथमिक अवस्था के पश्चात् माध्यमिक अवस्था में भी वह अभिलाषा बनी रहती है, परन्तु पहले जैसी व्यक्त रूप में नहीं, अव्यक्त स्थिति मे रहती है, साधक जब उच्च भूमिका पर चरण न्यास करता है और वीतरागता प्राप्त कर लेता है तभी पूर्ण निष्काम दशा प्राप्त होती है। इसीलिये कहा जाता हैं कि मुक्ति प्राप्त वही करता है जिसमें मुक्ति की भी कामना नहीं रह जाती।‡

---

* नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
नो किन्ति-वण्ण-सद्ध-सिलोगट्ठयाये आयारमट्ठट्ठिज्जा,
नन्नत्थ आरहंतिहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा।

—दसवेयालियसुतं, ९, ४

‡ यस्य मोक्षेऽप्यनाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति।

इस प्रकार आत्मशोधक अनुष्ठान में प्रवृत्ति करना और आत्मस्वरूप में रमण करना चारित्र नामक चोथा पद है।*

५ णमो लोए सव्वसाहूणं मनुष्यलोक में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जैसे मंत्रसाधक अपने लक्ष्य में एकनिष्ठ होकर, आने वाले समस्त उपसर्गों को पूर्ण दृढ़ता के साथ सहन करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु साधक शुद्ध आत्मोपलब्धि के उद्देश्य से निरन्तर जागृत अप्रमत्त रह कर और जागतिक प्रपंचों से दूर रह कर साधना करता है, वह साधु कहलाता है।

साधु पाँच महाव्रतों का पालक, पांचों इन्द्रियों का विजेता, क्रोध मान माया लोभ से निवृत्त, मन वचन काय, को पाप व्यापार से निवृत्त करने वाला, समिति गुप्ति का आराधक, क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच आकिंचन्य ब्रह्मचर्य आदि का आराधक, संवेगवान्, समभाव के शीतल सरोवर में अवगाहन करने वाला, जगत् में स्थित रहकर भी कमलपत्र-वत् जगत् से अलिप्त, स्वाध्याय एवं ध्यान में निमग्न और वैराग्यभाव की साक्षात् प्रतिमा होती है।

साधु जीवन अंगीकार करने का प्रधान हेतु आत्म कल्याण करना हैं, किन्तु आत्म कल्याण का प्रथम आधार 'सर्व भूतात्मभूतता' अर्थात् प्राणि मात्र को आत्मवत् समझना है। यह उदार भावना जिसके हृदय में मूर्त्तिमती हो उठती है, वही सच्चे संयम की आराधना कर पाता है। वह परकल्याण को आत्म कल्याण का अनिवार्य अंग मानता है और जगत् के उद्धार में आत्मा का उद्धार मानकर स्व-पर मे समान भाव धारण करके प्रवृत्ति करना है। अतएव उसका जीवन दूसरों के लिए भी महान् वरदान होता है।

---

* साधना का राजमार्ग में 'सम्यक् चारित्र : एक परिचय रेखा' देखें

परकल्याण करने की बुद्धि से किया जाना वाला कर्त्तव्य अहंकार उत्पन्न करता है। उससे अपने प्रति उच्चता और उपकरणीय व्यक्ति के प्रति हीनता की भावना भी उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जो परोपकार स्वोपकारबुद्धि से किया जाता है, उससे इस प्रकार की अवांछनीय वृत्तियों के पैदा होने का खतरा नहीं रहता। आत्म कल्याण के लिये परकल्याण करने वाला दूसरों पर ऐहसान नहीं लादता, अहंकार से बच जाता है और प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखने के कारण, प्रत्युपकार न होने की स्थिति में भी निराशा का अनुभव नहीं करता। वह निरीह भाव से सतत परोपकार में लीन रह सकता है।

इस प्रकार लोक का असाधारण कल्याण करता हुआ भी साधक आत्म-कल्याण करनेवाला ही कहलाता है। लोक कल्याण का यह उच्चतम आदर्श है, अनूठी कला है।

कई लोग कहा करते हैं कि साधुत्व को अङ्गीकार करना एक प्रकार की पलायन वृत्ति है, अपने सामूहिक कर्त्तव्यों के परित्याग की स्वीकृति है या अपने व्यक्तित्व की परिधि को अधिक से अधिक सिकोड़ कर अपने तक ही सीमित कर लेना है। ऐसा कहने वाले सज्जनों ने साधुता की महान् मर्यादा को सहृदयता के साथ समझने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया है। सत्य इससे एकदम विपरीत है। साधुता पलायनवृत्ति नहीं, आत्मा के शाश्वत शत्रुओं पर आत्यन्तिक विजय प्राप्ति का तुमुल संघर्ष है। न उसमें सामूहिक कर्त्तव्यों का संन्यास है, न व्यक्तित्व का सङ्कोचीकरण है, बल्कि एक परिवार, समाज अथवा राष्ट्र तक मर्यादित 'अहम्' या आत्मीयता को विश्वव्यापी विराट् स्वरूप प्रदान करना है। साधु किसी एक जाति, समाज या राष्ट्र का नहीं होता, वह सबका बन जाता है। सङ्कीर्ण हृदय के लोग ही ऐसा कहते हैं कि जो सबका है वह किसी का नहीं है!

जब एक व्यक्ति साधु जीवन स्वीकार करता है तब वह किसी

सत्कर्म का परित्याग नही करता, बल्कि अपने जीवन की रिक्तता की पूर्त्ति करता है। अर्थात् गृहस्थावस्था में जिन सत्कर्मों को कर नहीं पाता था या करता हुआ भी एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाता था, उनकी परिपूर्णता के लिए प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में साधु जीवन पर किये जाने वाले आक्षेपों के लिए कहीं कोई अवकाश ही नहीं है।

मानवजाति में जो प्रशस्त और स्पृहणीय वृत्तियाँ विद्यमान हैं, उनका अधिकाश श्रेय समय-समय पर वसुधा को पावन करने वाले संत-जनों को ही है। वही चिरकाल से मानव-आत्मा को देवत्व की महिमा से मंडित करने का उद्योग करते आ रहे हैं। अतएव नव पदों में उन्हे स्थान प्रदान किया गया है।

णमो उवज्झायाणं

णमो उवज्झायाणं:—उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार हो। उपाध्याय वह मुनीन्द्र कहलाते है जिन्होंने गुरु के चरण-शरण मे रह कर आगमों का गम्भीर अध्ययन किया है, जो शब्दार्थ में पारङ्गत होते हैं, संघ में अध्ययन-अध्यापन का उत्तरदायित्व वहन करते हैं और विद्या की परम्परा को चालू रखते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी ग्यारह* अङ्ग-शास्त्रों और चौदह पूर्वगत श्रुतों † के ज्ञाता होते हैं अथवा जिस काल में जितना श्रुत भाग उपलब्ध हो उसके तलस्पर्शी वेत्ता होते हैं।

---

* आचार, सूत्रकृत आदि अङ्गशास्त्र कहलाते हैं।

† दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के पाँच विभागों में से एक विभाग पूर्वगत श्रुत है। उसके चौदह उप विभाग हैं जो पूर्व नाम से प्रसिद्ध है।

उपाध्याय भी सामान्यतः साधु ही होते हैं, तथापि उनका पृथक् निर्देश करने का कारण उनके उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य की विशिष्टता है। पूर्वकाल में श्रुत लिपिबद्ध नहीं किया गया था। श्रुति परम्परा से ही वह चलता था। गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को मौखिक रूप से ही आगम पढ़ाता था। इस प्रकार आगम अविच्छिन्न प्रवाह को प्रचलित रखना कोई साधारण कार्य नहीं था। इसी उद्देश्य से साधुसंघ में उपाध्याय पद की पृथक् व्यवस्था की गई थी। शास्त्र जब लिपिबद्ध होने लगे तब भी उपाध्याय पद का वैशिष्ठ्य अक्षुण्ण रहा। आधुनिक काल में यद्यपि शास्त्र मुद्रित और अनूदित होने लगे है तथापि उनके विशेषज्ञ के रूप में उपाध्यायों की उपयोगिता कम नहीं है।

शास्त्र में उपाध्याय के पच्चीस गुणों का उल्लेख मिलता है। उसे द्वादश अङ्गों का वेत्ता, चरण-करण निष्णात, आठ प्रकार से प्रभावना करके धर्म-शासन की महिमा वृद्धि करनेवाला और मन, वचन एवं काय के अप्रशस्त व्यापारों का निग्राहक होना चाहिए।

इस प्रकार परमागम एवं तत्त्व विद्या की शिक्षा देने वाले, ज्ञान की चिरागत ज्योति को जाज्वल्यमान रखने वाले उपाध्याय परमेष्ठी को यहाँ छठा स्थान दिया गया है।

णमो आयरियाणं

णमो आयरियाणं आचार्यों को नमस्कार हो।

श्रमणसंघ में आचार्य का वही स्थान है जो सेना में सेनापति का होता है। वह संघ के नेता होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार नामक पांच आचारो का वे स्वयं पालन करते और दूसरों से पालन करवाते हैं।

साधु और उपाध्याय के योग्य पूर्वोक्त गुण तो आचार्य में होते ही

हैं, उनके अतिरिक्त भी अनेक विशेषतायें होती हैं। आचार्य की आठ सम्पदायें और छत्तीस गुण प्रसिद्ध हैं। आठ सम्पदायें इस भांति हैं।*

१. आचार सम्पदा—महाव्रत, समिति, गुप्ति, रूप आचार में तत्परता होना, पांच आचारों का दृढ़ता के साथ पालन करना, कठिन से कठिन प्रसंगों में भी उत्कृष्ट आचार से न डिगना आदि।

२. श्रुत सम्पदा—अपने समय में उपलब्ध समस्त श्रुत का परिज्ञान होना, स्वसमय के साथ परसमय में भी पारंगत होना, अपने युग के विद्वानों में मूर्धन्य होना, उत्सर्ग मार्ग का परिस्फुट विवेक होना आदि।

३. शरीर सम्पदा—प्रभावशाली एवं तेजस्वी शरीर का धारक होना, अंधत्व बधिरत्व आदि त्रुटियों का न होना।

४. वचन सम्पदा—वाणी में माधुर्य हो, हितकारिता हो, जिससे सुन कर प्रतिपक्षी भी प्रभावित, चकित और आनन्दित हो उठें। मुख से वचन निकलें जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता हो। वाणी सार्थक, परिमित और प्रिय हो।

५. वाचना सम्पदा—शास्त्रों के पठन-पाठन के विषय में असाधारण कौशल होना, शिष्य की पात्रता और योग्यता को समझ कर तदनुरूप ही उसे ज्ञानामृत का पान कराना।

६. मति सम्पदा—शास्त्र दिशा दर्शक होते हैं। उनमें प्रत्येक जिज्ञासु या प्रतिवादी के प्रत्येक प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं लिखा रहता। उसे पाने के लिए बुद्धि-प्रतिभा चाहिये। ऐसी विशिष्ट प्रतिभा ही मति सम्पदा है। आचार्य में असाधारण बुद्धिवैभव चाहिये।

७. प्रयोग सम्पदा—विजिगीषा से आये ज्ञानगर्वित वादियों के दर्प को शान्त कर देने की विशिष्ट क्षमता प्रयोग सम्पदा है।

---

* दशाश्रुतस्कंध, दशा ४, व स्थानाङ्ग ८ ठाणा

८. संग्रह सम्पदा--पहले कहा जा चुका है कि आचार्य संघ के नायक होते हैं। नायक शासक होता है और शासक के नाते उन पर सम्पूर्ण संघ के याग-क्षेम का उत्तरदायित्व रहता है। संघ के मुनियों को कोई अनावश्यक एवं अनुचित कष्ट न हो और उनकी संयमाराधना में विघ्न उत्पन्न न हो, ऐसी दूरदर्शिता आचार्य में होनी चाहिए। मुमुक्षु एवं वैराग्यवान् शिष्यों का संग्रह करना, उनके लिए आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था करना, समुचित सुख-सुविधा उत्पन्न कर देना संग्रह-सम्पदा में परिगणित है।

कोई-कोई इन आठ सम्प्रदाओं के चार-चार भेद करके और उनमें चार प्रकार के विनयों की गणना करके ३६ गुणों की पूर्त्ति करते हैं। किसी के मत से १२ तप, १० यतिधर्म, ५ आचार, ३ गुप्ति और ६ आवश्यक मिलकर ३६ गुण होते हैं। कहीं-कहीं इन गुणों में ५ महाव्रतों ५ आचारों, ५ समितियों, ३ गुप्तियों, ५ इन्द्रियों के दमन, ९ ब्रह्मचर्य गुप्तियों तथा ४ कषायों के परित्याग की गणना की गई है। कहीं जाति-सम्पन्नता आदि गुण इनमें परिगणित किए गए हैं।

गुणों के नामनिर्देश में शाब्दिक अन्तर होने पर भी कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। पूर्वोक्त गुणों का स्वरूप इतना विस्तृत है कि उनमें एक दूसरे का अनायास ही समावेश किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि संघ के नेता आचार्य का बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व प्रभावशालो होना चाहिए। उनकी प्रत्येक क्रिया आदर्श हो, उनका ज्ञान भण्डार अक्षय हो, प्रतिभा अनुपम हो, संघ का उत्कर्ष बहुत अंशों में आचार्य की सूझ-बूझ पर निर्भर रहता है।

नमो अरिहंतणं

णमो अरिहंताणं—अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो।

अरिहन्त का सीधा-सादा अर्थ है—शत्रुओं का हनन करने वाला।

किन्तु अध्यात्म शास्त्र में 'अरि' का अर्थ भिन्न है। वहाँ किसी व्यक्ति, समूह या राष्ट्र आदि को अरि नहीं माना जाता। अध्यात्मवेत्ता बहिर्बुद्धि से किसी तथ्य पर विचार नहीं करते। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी और तत्त्वस्पर्शिनी होती है। उनका लक्ष्य अमोघ होता है।

वास्तव में शत्रु वही है जो आत्मिक हित का विघात करता है, जिसके कारण आत्मा अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप से च्युत हो रहा है, जिसने आत्मा को उसके अनन्त-असीम नैसर्गिक वैभव से वंचित कर रक्खा है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर आत्मा के साथ बद्ध कर्म प्रवाह ही उसका असली शत्रु है। स्वभाव से आत्मा सर्वथा निर्विकार, निष्कलंक, चिन्मय, आनन्दमय, परमज्योतिस्वरूप तथा अनन्त वीर्यमय है। किन्तु कर्मावरणों ने उसके इस स्वरूप को आवृत कर दिया है। महापुरुषों के महामार्ग का अवलम्बन करके उन आवरणों को क्षीण एवं विनष्ट करने का जो पुरुषार्थ किया जाता है, वही साधना है साधना का स्मरण ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता जाता है, आचरण शिथिल होते जाते है और उसी अनुपात में आत्मा का सहज शुद्ध स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

जैन शास्त्रों में आत्मा के विकास क्रम का अतीव हृदयग्राही, क्रमबद्ध एवं तर्कसंगत सांगोपांग वर्णन उपलब्ध होता है।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुणों का विघात करने वाले कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा शरीरस्थ अवस्था में ही निर्मलता प्राप्त करके सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी, पूर्ण वीतराग और अनन्त शक्तिसंपन्न परमात्मा बन जाता है। उसे जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है। वही सशरीर परमात्मा 'अरिहन्त' कहलाते हैं। यद्यपि अरिहन्त को विदेह मुक्ति नहीं प्राप्त होती तथापि वह निकटतर हो जाती है।

यही अरिहन्त परमात्मा मुक्ति के मार्ग की प्ररूपणा करते हैं। इन्हीं से अज्ञानावृत जगत् के जीवों को ज्ञान की विमल ज्योति प्राप्त होती है। अतएव वे हमारे आराध्य हैं।

णमोसिद्धाणं

नमो सिद्धाणं:—सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो।

साधना का चरम लक्ष्य सिद्ध पद की प्राप्ति है। इस पद की प्राप्ति होने पर आध्यात्मिक विकास परिपूर्ण हो जाता है। समस्त औपाधिक भावों की निवृत्ति हो जाने से आत्मा का विशुद्ध सहज स्वभाव प्रकट हो जाता है।

अरिहन्त अवस्था में घाति कर्मों के क्षय हो जाने से अनन्त ज्ञानादि गुण प्रकट हो जाते हैं, फिर भी भवोपग्राही, चार अघाति कर्म शेष रहते हैं, जिनमें आयु कर्म भी सम्मिलित हैं। आयु कर्म की समाप्ति जब सन्निकट होती है तो अरिहन्त भगवान् उच्चकोटि के ध्यान का अवलंबन करके शीघ्र ही शेष कर्मों को क्षीण कर देते हैं और विदेह दशा प्राप्त करके सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्त दशा में सूक्ष्म या स्थूल कोई शरीर नहीं रह जाता, अतएव आत्मा का अगुरु लघुत्व गुण व्यक्त हो जाता है। उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी, जो कर्मों के आवरणों से विकृत हो रहा था, प्रकाश में आ जाता है। अतएव मुक्त होते ही आत्मा ऊर्ध्वगति करके लोक के ऊर्ध्व भाग तक, एक ही समय में, जा पहुँचता है।

जैसे जल मत्स्य को, और लोहे की पांत रेलगाड़ी की गति में सहायक होता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय नामक एक अमूर्त्त द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय विद्यमान है, वहाँ तक का आकाश-भाग लोकाकाश कहलाता है। उसके आगे का आकाश अलोकाकाश के नाम से प्रसिद्ध है। ऊर्ध्वगामी सिद्धात्मा, जहाँ तक धर्मास्तिकाय का सद्भाव है, बराबर गति करता है। धर्मास्तिकाय की अविद्यमानता में उसकी गति प्रतिहत हो जाती है।*

---

* अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदि चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ॥ औपपातिक सूत्र

सिद्धिपद के विषय मे कहा गया है कि—वह पद शिव अर्थात् सब प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल, अरुज—समस्त व्याधियों से विहीन अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और पुनरागमन से रहित है। सिद्ध भगवान् सदाकाल के लिए इस प्रकार के परमोत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं।

सिद्ध भगवान् में निम्नांकित आठ प्रधान गुण होते हैं—

१—अनन्त ज्ञान

२—अनन्त दर्शन

३—अव्याबाधता

४—अगुरुलघुत्व

५—अमूर्त्तत्व

६—अनन्त वीर्य

७—अक्षय स्थिति

८—अनन्त चारित्र

सिद्ध का स्वरूप वस्तुतः शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप का वर्णन करने में शब्द, चिन्तन करने में मति, और विकल्प करने में तर्क समर्थ नहीं है।* बड़े २ ज्ञानी भी उस अनिर्वचनीय, अचिंत्य और अतर्क्य स्वरूप को कहने में अपना असामर्थ्य घोषित करने में ही अपना गौरव मानते हैं।

भारतीय संस्कृति में : मुक्ति

प्रत्येक आत्मवादी आस्तिक दर्शन के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित रही है। वह यह है कि आखिर आत्मा की चरम परिणति क्या है? जन्म मरण के विषय चक्र में फंसा रहना और अनादि

---

* सव्वेसरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।
—आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. ६.

काल से लेकर अनन्त काल तक इधर-उधर भटकना ही क्या इसके लिए निसर्ग का विधान है ? सभी दार्शनिक जन्म-मरण को दुःख मानते हैं और दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है तो क्या ऐसी भी स्थिति कभी आ सकती है कि आत्मा को इस दुःख से छुटकारा मिले ? अज्ञान, भ्रान्ति या मूढ़ता यदि आत्मा की शाश्वत सहचरी नही है और चेतना ही उस का अभिन्न स्वरूप है तो वह शुद्ध चेतना, जिसमें अज्ञान का मिश्रण न हो, कभी उसे नसीब होती है ?

भारतीय दर्शनों ने इस पर विचार किया है और लगभग सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि आत्मा की एक अन्तिम स्थिति है, जिसे मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण कहते हैं। मुक्त होने पर अनादिकालीन भव-भ्रमण के दुःख से छुटकारा हो जाता है। किन्तु मुक्तदशा में आत्मा किस स्थिति में रहता है और वह दशा शाश्वतिक है अथवा नहीं, इस विषय में विभिन्न दर्शनशास्त्री एकमत नहीं है।

बौद्धदर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकर नहीं करता तथापि चार्वाक की भांति पुनर्जन्म, बन्ध और मोक्ष का निषेध नहीं करता। उसकी मान्यता के अनुसार विश्व के अन्यान्य पदार्थों की भाँति चित्त क्षण भी स्वभावतः विनाशशील है, उनका प्रवाह–सन्तान निरन्तर चालू रहता है। पूर्ववर्त्ती चित्तक्षण से उत्तरवर्त्ती चित्तक्षण की उत्पत्ति होती रहती है। मरणकाल में जो चरमसमयवर्ती चित्तक्षण होता है, उससे अगले जन्म का प्रथम चित्तक्षण उत्पन्न होता है और इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर की धारा प्रवाहित होती रहती। इस धारा का अन्त आ जाना अर्थात् चित्तसन्तति का निरोध हो जाना ही मुक्ति है।

थोड़े से विचार से ही यह तथ्य सामने आ जाता है कि बौद्धसम्मत इस मुक्ति में खोना ही खोना है, पाना कुछ नहीं है। अपने आपको अनन्त शून्य में विलीन कर देना है। यह किसी को स्पृहणीय प्रतीत नहीं हो सकता। वास्तव में ऐसी मुक्ति लाभ का नहीं, घाटे का ही सौदा है।

वैदिक परम्परा के मुक्ति के सम्बन्ध में एकमत्य नहीं। वैशेषिक-दर्शन के प्रणेता कणाद की मुक्ति का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है। ज्ञान और आनन्द ही ऐसे गुण हैं जो आत्मा को जड़ पदार्थों से पृथक करते हैं। यही आत्मा का असाधारण और सर्वोत्तम वैभव है। यदि यह वैभव छिन हो गया, लुट गया तो समझना चाहिये कि आत्मा का सर्वस्व लुट गया। उसके पास अपना कुछ भी शेष नहीं रहा। फिर जड़ से आत्मा में वैशिष्ट्य नहीं रह जाता। किन्तु कणाद ऐसी ही मुक्ति का प्रतिपादन करते है। वे मुक्ति मे आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते मगर ज्ञान और आनन्द में उसका सर्वथा वंचित हो जाना मानते हैं। उनके कथनानुसार मुक्त दशा मे 'शुद्ध' आत्मा रह जाता है और 'शुद्ध' का अर्थ है बुद्धि सुख आदि समस्त विशिष्ट गुणों का अभाव हो जाना।

जिस ज्ञान मे विभ्रम या विप्रयास या अपूर्णता है, वह औपाधिक है। जो आनन्द इन्द्रियों के माध्यम से अनुभूति मे आता है और इस कारण जो पराश्रित है, वह आत्मा का स्वभाव नही है। निरावरण और निरुपधिक अवस्था मे इन विभावों का अन्त हो जाना तो स्वाभाविक है किन्तु शुद्ध संवित् और आत्मानन्द का भी अन्त मानना तो प्रकारान्तर से आत्मा का ही विनाश मानना है। ऐसी मुक्ति का अर्थ है आत्मा को पाषाणखंड के सदृश जड़ बना लेना।

कतिपय वैदिक ऋषि मुक्तात्मा के सर्वज्ञत्व की संभावना को स्वीकार नही करते। उनका तर्क यह है कि इन्द्रियों के गोचर वर्त्तमान कालीन और उनमें भी सम्बद्ध पदार्थ ही हो सकते हैं। कालव्यवहित अनागत और अतीत पदार्थ, देशव्यवहित दूरवर्त्ती पदार्थ और स्वभावव्यवहित परमाणु आदि इन्द्रियगोचर नहीं होते। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की सत्ता उन्हें स्वीकार नहीं है।

सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार न करने पर आगम का प्रामाण्य किस प्रकार टिक सकता है ? इस समस्या को सुलझाने के लिए आगम को नित्य और अपौरुषेय माना गया है।

प्रस्तुत प्रश्न का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से है, अतएव हम विस्तार से इस विषय की मीमांसा यहां नहीं करेंगे। हमें यहां केवल मुक्ति के विषय में ही विचार करना है और देखना है कि मुक्त आत्मा की वास्तव में क्या स्थिति होती है ? अतएव संक्षेप में ही कुछ लिखा जायगा।

सर्वज्ञता के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ लिखा गया है और उससे भी अधिक चिन्तन किया गया है। फिर भी हमारे दार्शनिक किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच सके।

इन संबंध में एक तर्क, जो समझने में कठिन नहीं है, हमारे मस्तिष्क में उद्भूत होता है। आत्मा स्वभावतः चिन्मय है, ज्ञानस्वरूप है। उसे विज्ञानघन और चिदानन्दमय स्वीकार किया है उसमें जितना अज्ञान और मिथ्यात्व है, वह औपाधिक है, आवरणकारणक है। मुक्त अवस्था में यदि समस्त औपाधिक भावों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तो अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाना निश्चित है। समस्त अज्ञान का संक्षय हो जाने पर पूर्ण ज्ञानमय स्थिति का प्रादुर्भाव होना चाहिये। ऐसा ज्ञान हो जो विशुद्ध है अर्थात् जिसके साथ अज्ञान लेश भी नहीं है, सर्वज्ञता कहलाता है। मुक्तदशा में सर्वज्ञता प्रादुर्भाव मानना इस प्रकार अनिवार्य जो जाता है।

मुक्तदशा समस्त आवरणों का आत्यन्तिक क्षय होने पर ही उत्पन्न होती है, अतएव वह शाश्वत ही होना चाहिये। विकार ही विकार का जनक है और जब पूर्ण निर्विकार स्थिति एक बार उत्पन्न हो जाती है तो विकार का अहेतुक उद्भव संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त मानव-पर्याय या पाशवजीवन के समान मुक्तपर्याय भी अल्पकालीन हो तो ऐसी मुक्ति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता जिसके लिये साधना का विराट् आयोजन किया जाय। अतएव अवतारवाद को असत्कल्पना न कहना हो

तो आलंकारिक कथन ही समझना चाहिये। वस्तुतः मुक्तात्मा को पुनः अवतरित होकर जन्म जरा-मरण की पीड़ा की परिधि में नहीं आना पड़ता।

औपपातिक सूत्र में मुक्तात्माओं का वर्णन अत्यन्त सुन्दरता के साथ किया गया है। उसका सार यहाँ अङ्कित कर देना उपयुक्त ही होगा।

भव से मुक्त होते समय—चरम शरीर का परित्याग करते समय शरीर की जो आकृति होती है, मुक्तात्मा उसी आकृति में सदा अवस्थित रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही पड़ता है कि मुक्त होने पर शरीर की अवगाहना का तीसरा भाग कम हो जाता है।१

सिद्ध जीवों को पृथक-पृथक स्थान की आवश्यकता नहीं होती। अमूर्त्त होने के कारण जहाँ एक सिद्ध हैं वहाँ अनन्त सिद्ध रहते हैं।२

सिद्ध जीव अशरीर होते हैं, अतएव सशरीर अवस्था में शरीर के कारण आत्म-प्रदेशों में जो पोलापन रहता है, वह उस अवस्था में नहीं रहता। वे केवल ज्ञान-दर्शन में सदा उपयुक्त रहते हैं। सर्व देश-काल वर्त्ती भावों को केवल ज्ञान से जानते हैं और केवलदर्शन से देखते हैं।३

पूर्ण रूप से अव्याबाध को प्राप्त मुक्तात्माओं को जो अनुपम आत्मानन्द प्राप्त रहता है, वह न तो मनुष्यों को प्राप्त है, न स्वर्गलोक-

---

१ दीहं वा हस्सं वा जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया।

२ जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अण्णोण्णसमवगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोगंते।

३ असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं।

वासी देवों को ही। सिद्धिसुख की तुलना में स्वर्ग का सुख किसी गिनती में नहीं है। देवों को जितना सुख है उसे यदि भूत भविष्यत् और वर्तमान काल के समयों से गुणित कर दिया जाय और उसके अनन्त वर्ग किए जाएँ तो भी वह मुक्तिसुख की समानता नहीं कर सकता।४

भाषाविषयक कौशल से अछूता कोई म्लेच्छ मनुष्य किसी अत्यन्त सुन्दर नगर के अद्‌भुत सौन्दर्य का अनुभव करके भी उसका यथा तथ्य वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार मुक्तिसुख का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके वर्णन के लिए कोई सत् उपमा नहीं है। हाँ, असत् उपमा का आश्रय लेकर कहा जा सकता है—जैसे कोई बहुत दिनों का भूखा-प्यासा 'सर्व कामगुणित' आहार करके भूख-प्यास से छुटकारा पाकर अमृत से तृप्त हुआ सा अनुभव करता है, उसी प्रकार अतुल अव्याबाध और शाश्वत् सुखमय अवस्था में मुक्तात्मा विराजमान रहते है।५

मुक्तात्मा समस्त दुःखों से पार हो चुके हैं, जन्म जरा मरण और बन्धन से विमुक्त हैं तथा शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।६

---

४ णवि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं णवि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं।
जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं।
ण य पावइ मु त्तसुहं, णंताहि वग्ग वग्गूहिं।

५ जइ णाम कोई मिच्छो नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउं, उवमाएँ तहिं असंतीए।
जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ।
तण्हा छुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो।

६ तित्थिण्ण सव्वदुक्खा, जाइजरामरण बन्धणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंति सासयं सिद्धा।

—औपपातिक सूत्र, सिद्धप्रकरण।

मुक्ति के स्वरूप में जिस प्रकार मतविभिन्नता देखी जाती है, उसी प्रकार उसके कारणों के संबंध में भी। उसका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। हम बतला आये हैं कि मुक्ति जैसे परम और उच्चतम ध्येय की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र के बिना संभव नहीं है।

जो लोग अकेले ज्ञान से मुक्ति की कल्पना करते हैं, उन्हें उत्तर देते हुए और चारित्र का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए महान् आचार्य श्रीभद्र बाहु ने कहा है—समग्र श्रुतज्ञान का फल चारित्र है और चारित्र का फल निर्वाण है।

निर्यामक (मल्लाह) कितना ही कुशल क्यों न हो, अनुकूल पवन के बिना वणिक् को उसके अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता—महार्णव के किनारे नहीं ले जा सकता, इसी प्रकार कोरा ज्ञान, चारित्र रूप अनुकूल पवन के अभाव के आत्म-पोत को संसार-सागर से पार नहीं उतार सकता। ज्ञानगर्विष्ठ यह सोचते हैं कि हम ज्ञान के ही सहारे पार लग जायेंगे, वे भ्रम में हैं और किनारे के निकट पहुँच कर चारित्र के अभाव में पुन. संसार-सागर में डूब जाते हैं।

जिसने अगस्त्य की भांति श्रुत-वारिधि का पान कर लिया है, प्रचण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया है, किन्तु उसे आचरणगत नहीं किया, उसके लिये वह अगाध ज्ञान भी उसी प्रकार निरर्थक है जैसे अंधे के आगे जगाये गये लाखों करोड़ों दीप।*

---

* सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव विंदुसागराओ।
तस्सवि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ॥११२६॥
जह छेयलद्धनिज्जामओऽवि वाणियगइच्छियं भूमिं।
वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं ॥११४५॥
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहं न पाउणइ।
निउणोऽवि जीवपोओ, तवसंजम-मारुयविहूणो ॥११४६॥
सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिति चरणविप्पहूणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि? ॥११५२॥ —आव. निर्युक्ति

इस प्रकार पहुँचे हुए साधक ज्ञान और क्रिया से समुचित समन्वय पर भार देते हैं। उनका कथन है कि ज्ञान हीन क्रिया जैसे निरर्थक है, क्रियाहीन ज्ञान भी उसी प्रकार व्यर्थ है। इस भाव को व्यक्त करने के लिये जैनागमों में एक बड़ा सुन्दर रूपक आया है।

एक विशाल वन मे दावानल सुलग उठा। दुर्भाग्य से दो व्यक्ति एक अंधा और एक पंगु उसमें फँस गये। अंधा मनुष्य दावानल की चपेट में आने से बचने के लिये भागा। किन्तु उसे ज्ञात नहीं था कि किस ओर भागने से प्राणरक्षा होगी ? बिना जाने ही वह भाग खड़ा हुआ। परिणाम यह हुआ कि उसकी दौड़ दावानल की ओर ही हुई और वह उसमें भस्म हो गया।

यही दशा ज्ञानहीन क्रियावान् की और क्रियाहीन ज्ञानवान् की होती है।

एक दूसरे अंधे और पंगु के समक्ष भी यही परिस्थिति उत्पन्न हुई। उन्होंने परस्पर समझौता किया। दोनों में समन्वय स्थापित हुआ। अंधे ने पंगु को अपने कंधे पर बिठलाया। पंगु पथ प्रदर्शित करने लगा और अंधा चलने लगा। पारस्परिक सहयोग से दोनों की त्रुटि की पूर्त्ति हो गई और वे सकुशल नगर में जा पहुँचे।

इसी प्रकार समन्वित ज्ञान और क्रिया से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।*

राजनैतिक पंचशील

आज के युग में असाधारण और अभूतपूर्व वैज्ञानिक क्रान्ति हुई और

---

* संजोगसिद्धी य फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समेच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥
—आव० निर्युक्ति, ११६५.

हो रही है। विज्ञान-वेत्ताओं ने जो अन्वेषण किए हैं, उनसे एकदम अभिनव समस्याएँ मानवजाति के समक्ष आ उपस्थित हुई हैं। संहार के ऐसे विकराल साधन निर्मित हो चुके हैं कि भूमंडल के सर्वनाश के विरस स्वर गूंजने लगे हैं। राष्ट्रों के पारस्परिक भौगोलिक अन्तर समाप्त-से हो गए हैं। ऐसे युग में आवश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों के नायकों का हार्द अन्तर भी समाप्त हो जाय और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ बन्धु-भावना, सहानुभूति एवं मैत्री का व्यवहार करे। इस प्रकार के मधुर सम्बन्धों के बिना विश्व का त्राण नहीं है।

इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर भारत के महामान्य प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने राजनीतिक 'पंचशील' की योजना प्रस्तुत की और विश्व के त्राण एवं कल्याण के लिए नूतन मार्ग प्रदर्शित किया है।

इन पंचशील सिद्धान्तों को ॐ के मध्य भाग मे स्थान प्रदान किया गया है। प्रश्न किया जा सकता है कि अध्यात्म साधना के केन्द्र ॐ में राजनीति घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी ? मगर भूल नहीं जाना चाहिये कि जीवन एक अखण्ड तत्त्व है जिसे समाज, धर्म, अर्थ, राजनीति आदि के विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त नहीं किया जा सकता। इन सभी चीजों का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। अतएव जीवन की शान्ति और स्वस्थता के लिए राजनीतिक शान्ति और स्वस्थता अनिवार्य है।

श्री नेहरू द्वारा प्रतिपादित पंचशील ये हैं: —

१. सार्वभौमिकता का समादर
२. अनाक्रमण
३. अहस्तक्षेप
४. पारस्परिक सहयोग और समानता
५. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

प्रथम शील 'सार्वभौमिकता का समादर' का अर्थ है—प्रत्येक देश अपनी भूमि और सार्वभौमिकता के साथ दूसरों कीभूमि पर सार्वभौमिकता का उचित सम्मान करे। इससे आपसी विद्वेष और कलह का निवारण होगा और मानवता शांति लाभ करेगी।

दूसरे शील 'पारस्परीक अनाक्रमण' की भावना से ओतप्रोत होकर जब कोई देश दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करेगा, प्रस्तुत समझौता, शांति और वार्त्तालाप के द्वारा ही विवादों को सुलझाने का प्रयत्न करेगा तो किसी भी प्रकार की अशांति को सिर उठाने का अवसर हीं नहीं मिलेगा।

'अहस्तक्षेप' का अभिप्राय है—एक दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में टाँग न अड़ाए। सब को अपनी अपनी शासनपद्धति और निर्धारित नीति में किसी दूसरे देश की ओर से बाधा न डाली जाय।

चौथा शील 'पारस्परिक सहयोग और समानता' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें मानवता की सेवा और मानव शांति की भावना तरंगित हो रही है। इस शील मे यह बात निहित है कि प्रत्येक देश, दूसरे देश को अपने ही समान समझें, उसके प्रति आत्मीयता की भावना से बर्त्ताव करे, और जो देश जिस क्षेत्र में पिछड़ा हुआ हो, उसके उस क्षेत्र में विकाश करने में सहयोग दिया जाय। इस शील का प्रामाणिकता के साथ पालन किया जाय तो देश की उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है। इसमे मानवता को एक नया जीवन मिलेगा और प्रत्येक देश का निवासी अनुभव कर सकेगा कि मानव जाति एक और अखंड है, चाहे वह एशिया मे हो, यूरोप में हो या अमरीका मे हो। सब का भाग्य एक ही सूत्र मे बँधा है।

'शान्ति सह-अस्तित्व' पांचवा शील है। इसका संक्षिप्त अर्थ है—जीओ और जीने दो। सभी देशों का अपना अपना अस्तित्व है और रहेगा। यदि हम समझ लें कि प्रत्येक राष्ट्र को रहने का अधिकार है

और एक राष्ट्र दूसरे का विरोधी नहीं बन्धुराष्ट्र है, तो युद्ध की विभीषका तथा विध्वंस की काली घटाओं का शीघ्र ही अन्त आ जायेगा और इसी मानव लोक को स्वर्ग लोक बनते विलम्ब नहीं लगेगा। प्रति वर्ष विनाश के साधनों पर व्यय होने वाला अरबों-खरबो की विपुल धनराशि विकास के साधनों में प्रयुक्त होने लगेगी।

इस प्रकार विश्वशांति के लिए पंचशील का सिद्धान्त अमोघ जड़ी-बूटी है।

अधोलोक

सात नरकों का स्थान अधोलोक में ही है, अतएव ब्रह्माण्ड-स्वरूप 'ओं' पद के अधोभाग में नरक-भूमियों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं है।

जो भद्र प्राणी 'ॐ' इस महामन्त्र की आराधना करता है, उसे नरक की दारूण यातनाएँ नहीं भोगनी पड़तीं, प्रत्युत सदा के लिए नारकीय यातनाओं से मुक्ति मिल जाती है।

जैन शास्त्रों मे नरक भूमियां सात मानी गई हैं, जिनके नामों का 'ॐ' के निचले भाग में उल्लेख किया गया है।

नरक पापी जीवों के पाप को भोगने के स्थान है, जो घोर अंधकार-मय, भाँति-भाँति पीड़ाओं से युक्त और अतीव भयङ्कर हैं। इस स्थान से बचने का उपाय है—पंचपरमेष्ठो के समन्वित रूप ओंकार की आराधना जो ओंकार की आराधना करके अपने अन्तरात्मा को पवित्र और जीवन को सात्विक बना लेते है, उन्हें नरक का अतिथि नहीं बनना पड़ता।

इसके विपरीत जो मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के वशीभूत होकर ओंकार के समीचीन स्वरूप को नहीं पहचानते, उन्हें नरक मे लम्बे काल तक निवास करना पड़ता है। यही भाव द्योतित करने के लिए सात नरक-भूमियों के नीचे मिथ्यात्व आदि का अङ्कन किया गया है। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्व

अयथार्थ रुचि, श्रद्धा या प्रतीति ही वास्तव में मिथ्यात्व या मिथ्या दृष्टि है। मिथ्यात्वग्रस्त जीव मनुष्य हो तो भी वह विवेकहीन होने के कारण पशु के समान माना गया है।* मिथ्या-दृष्टि जीव तत्त्व-अतत्त्व का भेद नहीं कर सकता। उसकी अन्तर्दृष्टि जागृत नहीं होती, अतएव वह तरह-तरह की भ्रान्तियों से घिरा रहता है। वह अदेव को देव, कुगुरु को सुगुरु और अधर्म को धर्म मानकर आत्मा के अकल्याण में प्रवृत्त रहता है। उसकी आत्मा अत्यन्त कलुषित और मलिन होती है। वह अपने दृष्टि विपर्यास के कारण अहित को हित और हित को अहित समझता है। जैसे कटुक तूंबे के सम्पर्क से मधुर दुग्ध भी कटुक रूप मे परिणित हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के योग से मिथ्या-दृष्टि मे जो भी ज्ञानमात्रा होती है, वह सब मिथ्याज्ञान ही बन जाती है।

मिथ्यात्वी प्राणी प्रथम तो आत्मतत्व, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप और बन्ध और मोक्ष को स्वीकार ही करता, कदाचित् स्वीकार कर ले तो आत्मकल्याण के लिए प्रवृति नहीं करता। कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जो अपनी भ्रांत धारणा के अनुसार त्यागमय जीवन पथ पर चलते हैं, मगर उनका आचार मिथ्यात्व के विष से दूषित होने के कारण मिथ्याचार ही होता है। उसका फल भवभ्रमण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि प्राणी के लिये वह कड़ी बेड़ी है जो उसे आध्यात्मिक विकास की प्रथम भूमिका पर भी आरूढ़ नहीं होने देती। आत्मशोधन के समीचीन मार्ग का ही पता नही होता। अतएव मुमुक्षु जीव का सर्वप्रथम मिथ्यात्व से पिण्ड छूटना नितान्त आवश्यक है। जब तक मिथ्यात्व नहीं जाता, कोई भी क्रिया आत्मस्पर्शी और आत्मलक्षी नहीं हो सकती। मिथ्यात्व के नष्ट होने ही दृष्टि शुद्ध होती है, लक्ष्य स्थिर होता है और प्रवृत्ति आत्महितकारिणी बन सकती है।

---

* नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः। —पं० आशाधर।

अविरति

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, यह पांच मूलभूत पाप हैं। इनका पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से भी त्याग न होना अविरति है। मिथ्यादृष्टि जीव में तो ऐसी जागृति या स्फूर्त्ति ही नहीं होती कि वह इन पापों का त्याग कर सके, अनेक सम्यग्दृष्टि भी इनका परित्याग नहीं कर पाते। वे अहिंसादि व्रतों को उपादेय एवं पापप्रवृत्ति को हेय समझते हुए भी तदनुकूल प्रवृत्ति करने में अक्षम रहते हैं।

जीवन में अनेक बार यह घटित होता देखा जाता है कि मनुष्य का विवेक जागृत होता है, उसकी कर्त्तव्य बुद्धि भी सोई नहीं होती, फिर भी अन्तरतर की दुर्बलता उस विवेक और बुद्धि को व्यर्थ बना देती है और मनुष्य ऐसे काम कर बैठता है जिन्हें वह स्वयं करना पसंद नही करता। बाद में उसके हृदय मे पाश्चात्ताप की आग प्रज्वलित होती है और वह अपने आपको धिक्कारता है। किन्तु अवसर आने पर फिर उसी दुर्बलता का शिकार हो जाता है। इस प्रकार अन्तस् की सद्भावना भावना ही बनी रहती है, वह क्रिया में परिणत नहीं हो पाती। यह दुर्बलता ही अविरति कहलाती है।

प्रमाद

कुशल कर्मों के प्रति अनादर बुद्धि या उपेक्षा होना प्रमाद है। साधक को 'स्व' के प्रति सतत जागरूक रहना पड़ता है। यही नही, वह जीवनयापन के लिये जो भी क्रियायें करता है, उन क्रियाओं के समय भी जागृत ही रहता है।* उसकी चित्तवृत्ति सदैव 'स्व' में केन्द्रित रहती है। वह अपने लक्ष्य क्षण भर के लिये भी विस्मरण नही होने देता। यह सतत जागृति ही अप्रमाद है। इसके विपरीत, पूर्वसंस्कार

* सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति।   —आचारांगसूत्र

आदि किसी कारण से उसकी दृष्टि जब बहिर्मुख बनती और लक्ष्य ओझल हो जाता है, तब प्रमाद की स्थिति है। भगवान् महावीर से अपने ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को पुनः पुनः सतर्क करते हुए कहा है– 'गौतम ! एक समय भी प्रमाद न कर।'†

पनिहारी अपनी सखियों–सहेलियों से बातें करती चलती है, हँसती है, बोलती है, तथापि उसका अन्तस् मस्तक पर स्थित घट में ही अटका रहता है, इसी प्रकार संयमनिष्ठ साधक का मन प्रत्येक क्रिया के समय अपने 'स्व' के साथ ही समन्वित रहना चाहिये। यह स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब अप्रमत्तभाव विकसित हो जाता है।

प्रमाद एक प्रकार की व्यभिचार वृत्ति है, सुषुप्ति है, पतन है। वह साधक को पथ भ्रष्ट कर देता है, भुलावे में डाल देता है। प्रमाद के कारण पापकृत्यों में प्रवृत्ति होती है। अप्रमत्त अवस्था में की गई क्रिया जो पापजनक नहीं होती, वही क्रिया जब प्रमत्त दशा में की जाती है तो पापजनक हो जाती है। इसी से कल्पना की जा सकती है कि प्रमाद कितना भयंकर है।

कषाय

आत्मा का प्रबल से प्रबल प्रत्यनीक कषाय ही है। कषाय से बढ़-कर आत्मिक शक्तियों का विघात करने वाला अन्य कोई भी विकार नहीं है।

'कषाय शब्द 'कष+आय' के योग से निष्पन्न हुआ है। 'कष' का अर्थ है—कर्म अथवा भव। जिनसे कर्म की और भवपरम्परा की अर्थात् जन्म-मरण की 'आय' अर्थात् प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते

---

† समयं गोयम ? मा पमायए

—उत्तराध्ययन, अ. १०

हैं। तात्पर्य यह है कि जिस विकार के कारण आत्मा कर्मजाल में आबद्ध होती है और जिसकी बदौलत भव-भ्रमण करता है, वह विकार कषाय है।

आत्मा के उत्थान और पतन का जो दीर्घकालीन नाटक चल रहा है। उसका सूत्रधार कषायभाव है। ज्यों-ज्यों कषाय की तीव्रता में वृद्धि होती है, आत्मा मलीन होता जाता है, स्वभाव से विमुख होकर विभाव परिणति में ग्रस्त होता जाता है। और आध्यात्मिक पतन की ओर अग्रसर होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कषायों का क्षपण उपक्षम होता है, आत्मा की स्व-स्वभाव में स्थिरता होती जाती है, उसके संक्लेष का अन्त आता जाता है, अनिर्वचनीय शान्ति का उदय होता है और आत्मा अपने उत्थान के उच्च-उच्चतर सोपानों पर आरोहण करता चला जाता है।

शास्त्र में चौदह गुणस्थानों का विशद वर्णन किया गया है। गुण-स्थान आत्मिक विकास की भूमिकायें हैं। अगर तनिक गहराई के साथ गुणस्थानों के स्वरूप पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन भूमिकाओं का प्रधान आधार कषाय है। किस प्रकार कषाय के तीव्र-तीव्रकर उद्रेक से आत्मा अधःपतन के गहरे गर्त्त मे गिरता जाता है और किस प्रकार कषायों पर विजय प्राप्त करने वाला साधक अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता हुआ पारमात्मिक ऐश्वर्य से मुंडित होता जाता है, इस चीज की सही कल्पना गुणस्थानों के अध्ययन से ही आती है। गुणस्थानों का अध्ययन एक प्रकार से कषाय के तारतम्य का ही अध्ययन है।

कषाय विजय को छोड़कर आत्म-शुद्धि का अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है।

यों तो कषाय-अध्यवसाय की तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता, मंदता, मन्दतरता, मन्दतमता आदि के आधार पर कषाय के भेद इतने अधिक

हो जाते हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती, तथापि उसके पार्थक्य का आभास देने की दृष्टि से चार स्थूल विभाग किये गए है, जो इस प्रकार हैं:—

१. अनन्तानुबन्धी
२. अप्रत्याख्यानावरण
३. प्रत्याख्यानावरण
४. संज्वलन

यह चारों कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार-चार प्रकार के है। चाहे अनन्तानु बन्धी आदि के क्रोधादि चार भेद किए जाएँ, चाहे क्रोधादि के अनन्तानुबन्धी आदि के चार-चार भेद कर लिए जाएँ, अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ये सब मिलकर सोलह प्रकार के कषाय हैं।

पूर्वोक्त चारों कषायों में अनन्तानुबंधी कषाय सबसे तीव्र है। इस कषाय की विद्यमानता में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं की जा सकती। इसके वशीभूत होकर मरने वाले प्राणि को नरक गति का अतिथि बनना पड़ता है। यह कषाय संस्कार के रूप में प्रायः यावज्जीवन बना रहता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय जब तक बना रहता है, तब तक देश-विरति उत्पन्न नहीं होती। इसके उदय मे देहोत्सर्ग करने वाले को तिर्यचगति मे—पशु-पक्षी आदि की योनि मे, जन्म लेना पड़ता है। इसका संस्कार चार मास तक बना रहता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय सम्यक्त्व और देशविरति में तो रुकावट नहीं डालता, मगर सर्वविरति-सम्पूर्ण संयम का बाधक है। इसका संस्कार एक पखवाड़े तक रहता है।

चारों में सबसे हल्का कषाय संज्वलन है। यह चरित्र में रुकावट तो नहीं डालता, मगर उसमें पूर्ण निर्मलता नहीं आने देता। स्वात्म-

रमण रूप यथाख्यात चारित्र, जो सर्वोत्तम माना गया है, इस कषाय की उदयावस्था में नहीं उत्पन्न हो पाता।

किन्तु हल्का सा प्रतीत होने वाला यह कषाय भी बड़ा धोखेबाज है। आध्यात्मिक विकास की ग्यारहवी भूमिका पर पहुँचने वाले महामुनि इसे पूरी तरह उपशान्त कर देते है। उपशान्त कर देने का अर्थ यह है कि उसका समूल क्षय नही करते वरन् दबा देते हैं। उस समय वह महामुनि कषायोदय से सर्वथा मुक्त वीतराग हो जाता है और यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर देता है। मगर थोड़ी ही देर के बाद उपशान्त किया हुआ कषाय पुन: उभर आता है और उस महामुनि को पतनोन्मुख बना देता है।* वह शीघ्र न संभल गया तो उसे निम्न से निम्न भूमिका पर आकर दीर्घतर काल पर्यन्त भवभ्रमण करना पडता है। इसी कारण महामनीषी आचार्य भद्रबाहु स्वामी को कहना पड़ा ऋण, व्रण, अग्निकण और कषाय को थोड़ा समझ कर विश्वास नही करना चाहिये। इनकी अल्पता देख कर निश्चिन्त नही हो जाना चाहिये। अत्यल्प मात्रा में शेष रह कर भी यह बाद में अतिबहु बन जाते है।‡ इनका समूल विनाश करके ही दम लेना चाहिये।

संग्रहनय के दृष्टिकोण से क्रोधादि चारों कषायो का राग-द्वेष में समावेश हो जाता है। क्रोध और मान अप्रीत्यात्मक होने से राग मे सम्मिलित है। व्यवहारनय के अभिप्राय से माया भी द्वेष का ही रूप

---

* उवसामं उवणीय गुणमहया जिण चरित्त सरिसं पि।
पडिवायंति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे॥
—आवश्यक निर्युक्ति, १३०६

‡ उणथोवं वणथोवं अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे वीससियव्वं थोवंपि हु तं बहु होइ॥
—आव. निर्युक्ति. १३०९

है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में क्रोध ही द्वेष रूप है तथा शेष तीन कभी राग और कभी द्वेष रूप होते हैं। शब्दनय का अभिप्राय इसीसे मिलता जुलता है।*

आशय यह कि आत्मा की मलीनता का प्रधान कारण कषाय या राग-द्वेष है। अतएव समग्र साधना का प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्देश्य कषाय से मुक्ति प्राप्त करना है। कषाय से मुक्त होना ही वास्तव में सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है।

योग

'योग' शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है। योगशास्त्र के अनुसार चित्त की वृत्तिमात्र का या अप्रशस्त वृत्ति का निरोध योग कहलाता है, किन्तु यहाँ यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। धर्मशास्त्र में मन, वचन और काय के व्यापार को या इनके व्यापार से आत्म-प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्दन को 'योग' कहा गया है।*

मन मनोवर्गणा के पुद्गलों से बनता है। वचन भाषा से निर्मित होता है और काय औदारिक आदि वर्गणा के पुद्गलों से जनित है।

जब आत्मा में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय होता है तब उक्त पुद्गलों के आलम्बन से आत्मा के प्रदेशों में एक विशेष प्रकार का कम्पन-हलन-चलन होता है जब मनोवर्गणा के पुद्गलों के आलम्बन से होता है तब वह मनोयोग कहलाता है, भाषाजनीय पुद्गलों के आधार से होता है तो वचन योग कहा जाता है और शरीर के सहारे होता है तो उसे काययोग की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन रूप योग मूलतः एक होते हुए भी आलम्बनों की भिन्नता के कारण तीन प्रकार का माना गया है।‡

---

* विशेषावश्यकभाष्य, उत्तरार्ध।

* कायवाङ्मनःकर्म योगः। —तत्त्वार्थ सूत्र, ६-१

‡ देखिये विशेषावश्यक भाष्य और टीका. गाथा ३५५-६४

जब आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है तो कर्म-पुद्गलों का आस्रवण होता है और फिर वह कर्म आत्मा के साथ, दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाते हैं। आत्मा के साथ कितने कर्मों का बन्ध हो और बद्ध कर्मों में किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण हो, यह दोनों चीजें 'योग' की विशेषता पर अवलम्बित है। अतएव चार प्रकार के बंध में दो—स्थिति बन्ध और रसबन्ध—कषाय के निमित्त से और दो—प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबंध—योग के निमित्त से माने गए हैं।* अर्थात् बँधने वाले कर्म में किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण हो और वे कितनी तादाद में हों, यह दो बातें योग के आधार पर नियमित रहती हैं।

योग दो प्रकार का है—अशुभ और शुभ। हिंसा आदि के अशुभ आशय से होनेवाला कायिक व्यापार अशुभ काययोग, कर्कश, कठोर या मिथ्याभाषण करना अशुभ मनोयोग है। इससे विपरीत प्रवृत्ति होना शुभ योग है।

कषाय की विद्यमानता में योग अवश्य होता है किंतु योग के होने पर कषाय होता है और नहीं भी होता। कषाय दसवें गुणस्थान तक रहता है जबकि योग तेरहवें गुणस्थान तक। अर्हन्त भगवान् सयोग होते हैं, किन्तु जब उनका आयुष्य अत्यल्प शेष रह जाता है तब वे परमोत्तम शुक्लध्यान नामक समाधि के बल से योग का पूर्णरूप से निरोध करके, अयोग अवस्था प्राप्त करते हैं और फिर निर्वाण प्राप्त करने में उन्हें विलम्ब नहीं लगता।

---

* जोगा पयइ-पएसा, ठिदि-अणुभागा कसायओ हुंति।

—गोम्मटसार आदि

प

रि

शि

ष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थों के नाम

—

(१) बीज कोश
(२) भगवद् गीता
(३) माण्डूकोपनिषद्
(४) यजुर्वेद
(५) छान्दोग्योप निषद्
(६) कठोपनिषद्
(७) मैत्र्युपनिषद्
(८) तैत्तिरीय उपनिषद्
(९) कल्याण का साधना अङ्क
(१०) त्रिषष्ठि शलाका पुरुष
(११) भोज प्रबन्ध
(१२) पञ्चवस्तुक
(१३) ज्ञानार्णव
(१४) उत्तराध्ययन
(१५) महानिशीथ
(१६) वृहद् द्रव्य संग्रह टीका
(१७) रत्नाकर
(१८) विश्व लोचन कोश
(१९) आचाराङ्ग
(२०) णमोकार मंत्र माहात्म्य
(२१) सिद्ध प्राभृत
(२२) योग शास्त्र
(२३) आग्नेय पुराण

(२४) प्रतिष्ठा कल्प पद्धति
(२५) यशस्तिलक चम्पू द्वि भाग
(२६) भागवत
(२७) दशवैकालिक
(२८) हारीत संहिता
(२९) तत्त्वार्थ सूत्र
(३०) योग सूत्र
(३१) सर्वार्थ सिद्धि
(३२) तत्त्वार्थ भाष्य
(३३) प्रश्न व्याकरण
(३४) सूत्र कृताङ्ग
(३५) वृहद् स्वयंभू स्तोत्र
(३६) बौद्धकालीन प्रस्तर लेख
(३७) औपपातिक
(३८) स्थानाङ्ग
(३९) दशाश्रुत स्कंध
(४०) आवश्यक निर्युक्ति
(४१) गांधी उज्ज्वल वार्ता
(४२) साधना का राजमार्ग
(४३) विशेषावश्यक भाष्य
(४४) गोम्मट सार